विश्वेश्वरानन्द संस्थान प्रकाशन—२०३
Vishveshvaranand Institute Publication-203

सर्वदानन्द विश्व ग्रन्थमाला
Sarvadanand Universal Series

ग्रन्थ ४१
Volume XLI

ग्रन्थमाला-स्मारक-समर्पण-संकल्पः

- पञ्जापे लब्धजन्माऽऽसीद् होश्यारपुर-मण्डले ।
  महात्मा **सर्वदानन्दस्** तपःसिद्धो यतीश्वरः ॥ १ ॥
- वेद-वेदान्त-सच्छ्रद्धः प्रशान्ताऽशेषवासनः ।
  सत्यधर्म - प्रचारात्म - लोकसेवा - दृढव्रतः ॥ २ ॥
- सत्प्रेरणाभिराशीर्भिर् योऽभवद् मुनि-सत्तमः ।
  अस्माकं सर्वदा मान्यः **संस्थान**स्याऽस्य पोषकः ॥ ३ ॥
- **सद्ग्रन्थ-विश्व-मालेयं** तन्नाम्नाऽन्युपशोभिता ।
  तस्यास्तु सुचिर-स्मृत्यै पूजायै च यथा सदा ॥ ४ ॥

- संपादक :

  श्री विश्वबन्धु शास्त्री, ऍम. ए. ऍम. ओ. ऍल.

- प्रकाशक :

  विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशिआरपुर

स. वि. ग्रन्थमाला—४१ S. U. Series–XLI

भारतीय कवि सन्त

महात्मा बसवेश्वर
सन्त ज्ञानेश्वर
भक्त लल्लेश्वरी
चैतन्य महाप्रभु
महात्मा कबीर
भक्त नरसी महेता
गुरु नानकदेव
कवि शंकरदेव

१९६२

लेखक :—

सर्वश्री, पी. एन. भट्टगिरि, रामशिरके, शशिशेखर,
सुदर्शनसिंह 'चक्र', रतनचन्द्र, श्रीपाद जोशी,
संतोषकुमार, महेन्द्र कुलश्रेष्ठ।

● प्रथम संस्करण १९६२

● मूल्य ३.५० रु.

● पंजाब सरकार भाषा विभाग की सहायता से प्रकाशित

● प्रकाशक तथा मुद्रक—
देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर,
वि. वैदिक शोध संस्थान प्रेस,
साधुआश्रम, होशिआरपुर (पंजाब)
[भारत]

दो शब्द

विश्वेश्वरानन्द-संस्थान-प्रकाशन की ओर से गत वर्ष 'भारतीय नवोदय के अग्रदूत' के नाम से, राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ और श्री अरविन्द के जीवन-परिचय तथा उनके महान् कार्यों का दिग्दर्शन कराने वाली पुस्तक प्रकाशित की गई थी। उपर्युक्त महानुभावों ने अपने जीवन के कार्यकलाप से भारत में विशेष रूप से सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी।

भारतीय संस्कृति को अमर रखने के लिए भारत में भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सन्त उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपनी दिव्य-शक्ति, प्रभावशाली जीवन और धार्मिक भावना से तत्कालीन तथा आगे आने वाली जनता को मुग्ध बनाये रखा। विशेषतः, सन्तों की भक्ति धारा से आप्लावित होकर जनता आध्यात्मिक रस का आस्वादन करती रही तथा अब भी कर रही है।

प्रस्तुत पुस्तक में १२वीं शती से लेकर १६वीं शती तक के आठ सन्तों के जीवन तथा कार्य का संक्षिप्त परिचय है। प्रायः प्रत्येक प्रान्त से एक-एक सन्त लिया गया है—असम से शंकरदेव, बंगाल से चैतन्य महाप्रभु, काश्मीर से लल्लेश्वरी, पंजाब से गुरु नानकदेव, उत्तर-प्रदेश से महात्मा कबीर, गुजरात से नरसी महेता, महाराष्ट्र से सन्त ज्ञानेश्वर और कर्नाटक से महात्मा बसवेश्वर। उपर्युक्त सन्तों से भिन्न संतों की अवहेलना की गई है—ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं। पुस्तक का कलेवर अधिक हो जाने तथा अन्य सन्तों के जीवन लिखवा सकने में असमर्थता के कारण ही ऐसा करना पड़ा है।

बाहरवीं से सोलहवीं शती में इसलामी धर्म व सभ्यता ने भारत में अपने पाँव जमा लिये थे। शासन के कारण इसलाम धर्म अधिक

फैल रहा था; परस्पर विरोध की भावना भी तीव्र हो रही थी। सन्तों ने जहां अपनी भक्तिभावना से भारतवासियों में अपने धर्म और संस्कृति के प्रति-प्रेम और श्रद्धा बनाये रखी, उसके साथ ही इसलाम धर्म के प्रति द्वेष भावना को भी बहुत सीमा तक दूर करने तथा दोनों में एकता बनाये रखने के लिए भरसक यत्न किया।

भक्तजनों को प्रभावित करने वाली शक्तियो में 'चमत्कार' अपना एक प्रमुख स्थान रखते हैं। तत्कालीन अथवा पीछे आने वाली भक्त-मण्डली सन्तों के जीवन को 'चमत्कारों' से इतना ओत-प्रोत कर देती है कि वास्तविकता का बहुत अंशों मे तिरोधान हो जाता है। प्रायः 'चमत्कार' बुद्धिगम्य नहीं होते; बौद्धिक जनता उनमें आस्था नहीं रखती। अतः सन्तों के जीवन से सम्बन्धित 'चमत्कारों' का समर्थन करना बड़ा कठिन काम है। जिन सन्तों के जीवन इस पुस्तक में संकलित किये गये हैं, वे भी 'चमत्कारों' से भरे पड़े हैं। उनको यदि अलग कर दिया जाए तो जीवन सम्बन्धी घटनाएँ नगण्य सी रह जाती हैं। अतः उन 'चमत्कारों को 'ऐसा कहा जाता है' या 'किंवदन्ती है' इन शब्दों से आरम्भ करके उल्लेख किया गया है। पाठक स्वयं ही उनकी 'संभाव्यता' या 'असंभाव्यता' का अनुमान कर सकते हैं।

प्रत्येक सन्त का जीवन उसी प्रान्त के योग्य लेखक से लिखवाने का प्रयास किया गया है। लेखकों ने भी जहां तक सम्भव था, पूरे यत्न और खोज से तत्सम्बन्धी घटनाएँ और उनके महान् कार्यों का उल्लेख सरल और ओजस्विनी भाषा में किया है। इसके लिए संस्थान का प्रकाशन विभाग उनका आभारी है।

आशा है, पाठकों के लिए यह प्रयास रुचिकर प्रमाणित होगा।

विश्वेश्वरानन्द संस्थान
साधुआश्रम, होश्यारपुर

—प्रकाशक

भारतीय

कवि सन्त

महात्मा बसवेश्वर

[सन् ११२८—११६८]

●

पी. एन. भट्टतिरि

प्रस्तावना

मर्त्यलोक को स्वर्गलोक बनाना ही प्रत्येक युग के साधु-संतों और धार्मिक आचार्यों का प्रयत्न रहा है। इसकी पूर्ति और प्राप्ति के लिये जन-मन को जागरूक करना ही उन महात्माओं की साधना की मूल-प्रेरणा रही है। अपने उदात्त ध्येय की पूर्ति के लिये उन्होंने आत्मोत्सर्ग तक किया था। उनका व्यक्तित्व ऐसा प्रभावशाली रहा कि लोगों ने उनमें अपना मार्ग-दर्शन पाया। उन महात्माओं के उपदेशों के कारण, उनको अपने जीवन की जटिल विषमताओं में आशा की रजत-रेखाएँ दिखाई देती थीं। उन रेखाओं के प्रकाश में नये जीवन की, नये समाज की नींव डालने के लिए जनता संगठित होकर आगे बढ़ी, तो कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसी अदम्य प्रेरणा का संचार करने वाले व्यक्तियों का प्रभाव अक्षुण्ण होकर युग-युगान्तर तक सारे मानव समाज पर व्याप्त होता है। ऐसा ही प्रभावशाली व्यक्तित्व रखने वाले महापुरुषों में महात्मा बसवेश्वर भी थे।

बारहवीं शताब्दी में बसवेश्वर ने कर्नाटक भर में ऐसी विद्युत्शक्ति का संचार किया, जिससे महान् क्रांतिकारी परिवर्तन उत्पन्न किये जा सके। उनकी कार्यप्रणाली सुधार के विभिन्न पक्षों को आमूल स्पर्श करने वाली थी। उन्होंने धार्मिक अंधविश्वासों की जड़ हिला दी, समाज के कुरूप कलेवर को धो डाला और शारीरिक श्रम की नयी व्याख्या की। उनके इन कार्य-कलापों का केन्द्र, कल्याण, संसार की सभी क्रान्तियों के इतिहास में निस्सन्देह अपना विशेष महत्त्व

रखता है। वहीं रह कर उन्होंने अपनी महान् क्रांति के ऐसे प्रयोग किये, जिनसे धार्मिक पुनर्जागरण सम्भव हो पाया, नयी सामाजिक चेतना जगी, और आस्तिकता की नयी नींव पड़ी।

बसवेश्वर के समय राजनैतिक, सामाजिक, और धार्मिक परिस्थिति क्या थी, इसका संक्षेप में वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में कर्नाटक के भिन्न-भिन्न विभागों में भिन्न-भिन्न राजवंश राज्य करते थे। इनमें प्रमुख कल्याण नगरी के चालुक्य वंश और द्वारसमुद्र के होयसल वंश थे। विभिन्न विश्वासों के होते हुये भी विभिन्न समुदाय और धर्मावलम्बी सुख-शान्ति से रहते थे। हिन्दू और जैन अड़ोस-पड़ोस में शान्तिपूर्वक रहते थे। शैव और वैष्णव एक-दूसरे के साथ प्रेम-पूर्ण व्यवहार करते थे।

शैवों में सच्ची धार्मिक चेतना शिथिल-सी पड़ी थी। बहुत कम लोग आध्यात्मिक चिंतन, मनन और साधना को प्रधान मानते थे। अधिकांश लोग प्रवृत्ति-मार्ग में निरत रह कर भौतिक सुख-सम्पत्तियों की कामना करते हुए शिवजी के अघोर रूप और उग्र शक्तियों का आराधन करने में निरत थे। उस समय वैष्णव सम्प्रदाय भी विकास के पथ पर अग्रसर था। होयसल के राजा विष्णुवर्धन उसके प्रभाव में थे। शैव सम्प्रदाय के भी कुछ अनुयायी राजा कलोत्तुंग चोल के अत्याचारों से भयभीत होकर विष्णुवर्धन की शरण में आ चुके थे। यह घटना दोनों राजवंशों के बीच शत्रुता का बीज बोने में सहायक हुई।

बारहवीं शती के उत्तरार्ध में चालुक्य राज्य में नारमुडित्तैल

या त्रैलोक्यमल्ल नामक एक साहसिक सेनापति और मन्त्री था। उसका नाम बिज्जल था। वह स्वामिद्रोही था। राजा के विरोध में विद्रोह करके वह स्वयं राजा बन गया था। कल्याण नगरी उसकी राजधानी थी। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यहाँ राजनैतिक ह्रास और धार्मिक शिथिलता थी।

जीवन और कार्य

सन् ११२८ के लगभग बीजापुर जिले के बागेवाडी नामक गाँव में बसव का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम मादरस था और माता का मादलांबिका। वे शैव ब्राह्मण जाति के थे। बालक बसव बड़ा होशियार और मनोहर था। धार्मिक विषयों में उसकी बड़ी आस्था थी। माता-पिता बालक के प्रति बहुत प्रसन्न थे। वह जब आठ वर्ष का हुआ तो माता-पिता ने प्रचलित प्रथा के अनुसार उसका उपनयन-संस्कार करने का प्रबन्ध किया। किन्तु उनको निराश होना पड़ा! बालक ने जनेऊ धारण करने से यह कह कर इन्कार किया कि—"वह कर्मठता है और वैदिक धर्म कर्मकाण्ड प्रधान है।" यह उनके नवीन विश्वास संहिता की, एक दृष्टि से, घोषणा भी थी। कुछ समय बाद बालक ने सदा के लिये अपना घर छोड़ दिया, इस विचार से कि माता-पिता को अनावश्यक कठिनाई का सामना करने का अवसर उत्पन्न न हो।

घर से निकल कर बालक बसव कप्पडी ग्राम पहुँचा। वहाँ मलपहारी (आज का मलप्रभा) और कृष्णा नदी के संगम-स्थान पर स्थित संगमेश्वर को उसने अपने आराध्य देव के रूप में स्वीकार किया और आध्यात्मिक चिंतन-मनन में अपना

सारा समय लगाने लगा। कहते हैं कि वहाँ उसे जातदेव नामक एक महात्मा का मार्ग-दर्शन भी मिला।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कल्याण नगरी का राजा बलापहारी बिज्जल था। उसका प्रधानमंत्री बलदेव, बसव का मामा लगता था। वह बसव को बहुत चाहता था। इसलिये अपनी सुपुत्री गंगांबिका का विवाह उसने बसव से कर दिया। विवाह के बाद बसव बलदेव के यहाँ रहने लगे। किन्तु उनको ऐसा परान्न-भोजी रहना पसन्द नहीं था। वे चाहते थे कि कुछ कमा कर खाऊँ। यह उन्होंने अपने मामा को बताया तो बिज्जल की राजधानी में वे किसी छोटे पद पर नियुक्त कर दिये गये। किन्तु बलदेव अधिक दिन तक जीवित नहीं रहा।

राजा बिज्जल बसव की प्रतिभा से प्रभावित था। इसलिये बलदेव की मृत्यु के पश्चात्, उसने प्रधानमंत्री का कार्य संभालने की बसव से प्रार्थना की। यह उनके लिये बड़ी दुविधा का कारण बना। इससे एक ओर तो उन्हें सुविधा थी, तो दूसरी ओर आशंका भी। सुविधा इसलिये कि उस पद पर रहने से नयी विश्वास-संहिता का प्रचार आसानी से हो सकता था; आशंका इसलिये कि आध्यात्मिकचर्या में बाधा भी हो सकती थी। अंत में, राजा के बहुत मनाने-मनवाने के बाद, बसव ने प्रधानमंत्री बनना स्वीकार किया।

बसव के मंत्रित्व काल में राज्य की बहुमुखी प्रगति हुई। कई प्रकार के सुधार किये गये। राज्य-सम्पत्ति की वृद्धि भी हुई। प्रजा सुखी और संतुष्ट हुई। अपने मंत्री की कार्य-कुशलता पर राजा भी अत्यन्त प्रसन्न हुए। किन्तु यह परिस्थिति अधिक दिन तक रहने नहीं पाई।

एक ओर जहाँ बसव राज-काज में निपुण प्रमाणित हुए, वहाँ दूसरी ओर वे अपने नवीन धर्म के प्रचार में भी सफल सिद्ध हुए। उनके उपदेश सुनने लोग दूर-दूर से आने लगे और उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित भी होने लगे। बसव के उपदेश ऐसे स्फूर्तिदायी और प्रेरणा-प्रद थे कि लोग नयी दिशा की ओर अग्रसर होने लगे। बसव ने जाति-पांति के जर्जर ढाँचे को तोड़ कर जाति-निरपेक्ष राज्य की स्थापना करने का प्रयत्न किया और धर्म को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया।

सिद्धान्तों का प्रचार

अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये बसव ने एक नयी संस्था की स्थापना की। इसका उद्देश्य यह था कि धार्मिक विषयों पर परस्पर विचार-विमर्श हो सके। इस संस्था का नाम "अनुभव-मंटप" रखा गया।

उस समय अन्य धर्मों के ह्रास का मुख्य कारण उनमें हृदय-पक्ष से अधिक बुद्धि-पक्ष का समावेश था। उनमें अनुभूति की कमी थी। इसी कमी को दूर करके और चिरंतन अनुभूति के स्पंदन को स्थान देने के लिये ही 'अनुभव-मंटप' की स्थापना बसव ने की थी। ऐसे धर्म या आदर्श से क्या लाभ है जो साधारण लोगों की पहुँच के बाहर है ?

यों तो यह 'अनुभव-मंटप' अनुभवी लोगों की मंडली थी। इसके सूत्रधार स्वयं बसव ही थे। इसके सदस्यों में न लिंग-भेद था, न जाति-भेद ही। इसमें अछूत थे और स्त्रियाँ भी। यह गोष्ठी बसव के गृह के आंगन में होती थी। सभी सदस्य एक दूसरे को "अण्णा" (बड़ा भाई) कहा करते थे। बसव ने एक स्थान पर अपने संबंध में कहा है—

"न मुझसे कोई छोटा, न शिवभक्ति से कोई बड़ा
हे देव, तुम्हारे दास की दासी का दास हूँ।" (लेखक)

इस संस्था के सदस्यों के रहने के लिये कुछ ही दूर गुफाएँ बनी थीं। इन गुफाओं को आज भी कल्याण नगरी के आस-पास देख सकते हैं।

एक दृष्टि से 'अनुभव-मंटप' नाम की यह संस्था बसव की धार्मिक विचार-धारा की उपज कही जा सकती है। धार्मिक इतिहास में इसका अपना विशेष स्थान अवश्य ही रहेगा। क्योंकि जाति-निरपेक्ष समाज की जो कल्पना बसव ने की थी, उसकी प्रयोगशाला यही 'मंटप' रही। यहां अन्तर्जातीय भोजन, अन्तर्जातीय विवाह, अन्तर्धर्मीय चर्चा आदि खुले तौर पर होते थे। धर्म और आदर्शों की, सामान्य जनता की दृष्टि से, साध्य असाध्यताओं के बारे में चर्चा करके सुन्दर तथा उचित निर्णय पर पहुँचते थे। बसव के सारे सुधारों की टकसाल यही संस्था रही।

यहाँ के ही नहीं, भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों के लोग भी बसव के व्यक्तित्व से प्रभावित थे। पाण्ड्य, चोल, गुर्जर, उत्कल, नेपाल आदि प्रदेशों से लोग बसव के यहां आते थे। काश्मीर का राजा सिंहासन त्याग कर 'अनुभव-मंटप' का सदस्य बना था और वही बाद को 'मोलिगे मारय्या' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लकड़हारे की वृत्ति अपनाने के कारण उसका 'मोलिगे' नाम पड़ा था। इस प्रकार और भी राजाओं ने बसव की संस्था के सदस्य बनने में अपना गौरव समझ कर सिंहासन का त्याग किया। अछूत समझे जाने वाले लोग भी 'अनुभव-मंटप' के सदस्य थे। दीक्षा लेते ही सब आपस में समान बन

जाते थे। ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं किया जाता था। एक ओर राजा सदस्य थे तो दूसरी ओर दर्जी, धोबी, नाई आदि भी सदस्य थे। इन विभिन्न श्रेणी के लोगों को समान श्रेणी के अंतर्गत ला सके, इसी में बसव के व्यक्तित्व की महत्ता निहित है।

'अनुभव-मंटप' में लगभग तीन सौ सदस्य थे। अनुमानतः तीस तक स्त्रियाँ थीं। मंटप में सिद्धान्त-पक्ष और व्यवहार-पक्ष को लेकर वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क होते थे। अपने-अपने विचार व्यक्त करने की हर एक को स्वतन्त्रता थी। ये वाद-विवाद 'शून्य-सम्पादने' नामक ग्रन्थ में संकलित हैं। यह अनुभव की वेदी पर विचारों का मंथन करने का सुन्दर तथा एकमात्र निदर्शन है।

'मंटप' ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया। उसके अनुसार "भगवान् एक ही है और वह निराकार है।"

आत्मशुद्धि का उपाय निर्धारित करने में भी अनुभव-मंटप उदासीन नहीं रहा। इसे "मुलिनाविगेय कायिक" कहते हैं।

इस 'अनुभव-मंटप' को एक आध्यात्मिक विश्वविद्यालय या अकादमी कहना ही उचित प्रतीत होता है। उसके कुलपति के रूप में बसवेश्वर थे और इस विद्यालय के मूल-मन्त्र थे— नैतिकता, चरित्र-निर्माण और वर्ण-वर्ग-विहीन समाज की स्थापना। ऐसे उदात्त और क्रांतिकारी स्वतन्त्र विचारों के कारण ही युग-युगान्तर के बाद भी बसवेश्वर और उनके उपदेश जन-हृदय में अक्षुण्ण बने रहे।

इतना होते हुए भी, बसवेश्वर अपने को बहुत बड़ा नहीं मानते थे। उन्हीं की वाणी में—

एन्नल्ली निम्नमेलण भक्ति
सासिविकाळिन षटभागदिनितिल्ल ।
एन्न भक्तनेंबरु !
नानाव पापमाडिदेनो !
बेळयद मुन्न कोय्युवरे, हेळय्या !
इरियद वीर, इल्लद सोबगनु,
एल्ला वोटेयरु एरिति नुडिवरु;
एनगेद बिधिये कूडळसंगमदेवा !
मुझमें तुम्हारे ऊपर की भक्ति ।
राई का छठा अंश भी नहीं ।
(लोग) मुझे भक्त कहते हैं ।
(इसके लिये) क्या पाप मैंने किया ।
(धान) पकने के पहले कोई काटता है, कहो भाई ।
(अस्य) न भोंक सकने वाला वीन (मैं हूँ) सौभाग्य न रखने वाला हूँ ।
(तो भी) सभी (मुझे) बड़ा कहते हैं ।
मेरा क्या भाग है, हे कूडळ संगमदेव ।

अपनी विचारधारा का मूल-भूत तत्त्व उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

होयिदवरेन्न होरेदवरेंबनु;
बयिदवरेन्न बंधुगळेंबे;
निंदिसिदवरेन्न तंदे-तायगळेंबनु;
अळिगोंबवरु आळ्दवरेंबे;
जूरिदवरु जन्मबंधुगळेंबे;
कोंडाडिदवरेन्न शूलदल्लिक्किदवरेंबे;
कूडळसंगमदेव !

मैं मारने वालों को पालने वाला समझता हूँ।
डाँटने वालों को बन्धु समझता हूँ।
निन्दा करने वालों को माता-पिता समझता हूँ।
अपमानित करने वालों को अधिकारी समझता हूँ।
तुच्छ समझने वालों को जन्मबन्धु समझता हूँ।
(पर) प्रशंसा करने वालों को (मुझे) शूली पर चढ़ानेवाले समझता हूँ।
हे कूडल-संगमदेव।

बसव की जन-प्रियता दिनों-दिनों बढ़ने लगी। इसमें राजा का मान असंतुलित होने लगा। एक तो वह जैन था, दूसरा वह बलापहारी भी था इसलिये यह स्वाभाविक ही था कि अपने प्रधानमन्त्री की ऐसी बढ़ती हुई जन-प्रियता को वह सहन नहीं कर सका।

इसलिये उसने बसव के कार्यों पर अंकुश लगाना शुरु कर दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें वह बुरी तरह असफल ही रहा।

इसी बीच एक और घटना हुई। जाति-पांति का अन्तर्विरोध दूर करने के उद्देश्य से बसव ने एक अन्तर्जातीय विवाह भी सम्पन्न किया। वधू थी ब्राह्मण और वर था हरिजन। कहते हैं कि उन दोनों को राजा के आदेश से सड़क पर घसीटा गया। इसका उद्देश्य यही था कि इससे लोगों में आंतक फैल जाय और लोग अपने-आप बसव के प्रभाव से हट जायें। किन्तु इस की प्रतिक्रिया बिलकुल विपरीत हुई। लोग भड़क उठे। बसव ने उन्हें शांत करने का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु सब व्यर्थ। अन्त में वे मन्त्रि-पद को त्याग कर

अपने इष्टदेव कूडलसंगम देव के मन्दिर में गये और वहीं अपने इष्टदेव में "ऐक्य" (आत्मसात्) हो गये। यह घटना ईसवी सन् ११६८ में घटित हुई।

सामाजिक और धार्मिक सुधार

बारहवीं शताब्दी में सामाजिक व्यवस्था के सूत्र का संचालन कुछ गिने-चुने, पढ़े-लिखों के हाथ में आ गया था, जो स्वार्थी भी थे। इसके फलस्वरूप, साधारण जनता में सामाजिक चेतना का लुप्तप्राय होना स्वाभाविक था। समाज रूढ़ि-ग्रस्तता के कारण रुग्णावस्था में था। मानव सामाजिक प्राणी की अपेक्षा कुछ और ही बन गया था। समाज जाति-पांति चे कारण टुकड़ों में छिन्न-भिन्न हो गया था। अन्ध-विश्वासों की जकड़ से लोगों की विचार शक्ति संकीर्ण हो कर कुण्ठित हो गयो थी। इसकी प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। किन्तु इसको क्रियाशील बनाने के लिए एक प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता थी। यह कार्य बसवेश्वर ने सम्पन्न किया।

बसव ने जाति-पांति से खण्डित समाज को अखण्ड बनाने में अपना पहला पग उठाया। उन्होंने जातिविहीन समाज और राज्य की कल्पना की थी। हमें स्मरण रखना चाहिये कि यह लगभग आठ शताब्दी पूर्व की बात है। उन्होंने लोगों को समझाया कि कोई जन्म से उच्च नहीं होता। व्यक्ति की उच्चता उसका कर्म ही निश्चित करता है। उनके अनुसार "हत्यारा है अंत्यज, अभक्ष्य भक्षक है चंडाल।" [**कोल्लुववने मादिग। होलसु तिन्नुववने होलय**]

वृत्ति भेद से किसी को ऊँचा या किसी को नीचा मानने के

बसव घोर विरोधी थे। उनका कहना था कि किसी वृत्ति को अधिक गौरव और किसी को कम, ऐसी बात नहीं होनी चाहिए। सभी वृत्तियाँ गौरवपूर्ण हैं और समान भी है। वृत्ति से उनका अभिप्राय जीविका से था। इसके लिये उन्होंने वृत्ति की नयी परिभाषा की; उसे '**कायिक**' कहा। वृत्ति की यह नयी परिभाषा कितनी सुन्दर और उचित है। "**कायिक**" का अर्थ है "शरीर से किया जाने वाला परिश्रम।" किसी जीवनोपाय के बिना कोई जी नहीं सकता, यह सभी मानते हैं। दूसरे शब्दों में बसव ने स्वावलम्बन का उपदेश ही इस परिभाषा से दिया था। उन्होंने परान्न-भोजी जीवन को हेय समझा और भिक्षा-वृत्ति को निंदनीय कहा। सभी को '**कायिक**' करना अनिवार्य बताया। '**कायिक**' से जो कुछ मिलता है, भगवान शंकर को अर्पित हो जाता है। प्रतिदिन की कमाई से उस दिन की जीविका चलानी है। इससे न कल की चिंता होती है, न निराशा की भावना ही।

आठ सौ वर्ष पहले बसव ने जो '**कायिक**' सिद्धान्त लोगों के सामने रखा, आज के प्रसंग में भी वह नवीन ही लगता है। प्रत्येक शारीरिक श्रम करे; परान्नभोजी को समाज में स्थान नहीं—यही तो आज का भी नारा है। किन्तु इसमें और बसव के '**कायिक**' में जो थोड़ा अन्तर है, उसे यहां स्पष्ट करना अत्यावश्यक है। '**कायिक**' भगवान् को लक्ष्य कर किया जाता है। इसलिये उदात्त कर्म ही करना चाहिये। 'सभी लोग उदात्त कर्म करें' इससे सुन्दर सामाजिक व्यवस्था की कल्पना क्या हो सकती है? इसलिये तो कहा गया कि "**कायिकवे कैलास**" है। अर्थात् **कायिक** ही कैलास है! सारांश यह कि '**कायिक**' उत्तम उद्देश्य से करने पर कैलास की

प्राप्ति हो सकती है। यों बसव ने इसी पृथ्वी पर कैलास की स्थापना करने के लिए लोगों को अपने उपदेशों द्वारा प्रेरित किया था।

उन दिनों समझा जाता था कि स्त्री साधना में बाधक है। धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन स्त्रियों के लिए वर्जित था। बसव को यह उचित नहीं लगा। उन्होंने स्त्रियों को इस स्तर से उठा कर पुरुषों के स्तर पर खड़ा कर दिया। उन्होंने समझाया कि स्त्रियाँ बाधक नहीं, साधक हैं और उनके धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में कोई बुराई नहीं ! उनका उपदेश था कि पारिवारिक जीवन में रह कर पति-पत्नी दोनों की "समरस भक्ति" को भगवान् शंकर सानंद स्वीकार करते है।

इस प्रकार बसव ने सामाजिक स्तर पर जाति-पांति की रूढि को तोड़ डाला, वृत्ति की नयी परिभाषा की और पारिवारिक जीवन को सुदृढ बनाया।

बारहवीं शताब्दी का धार्मिक वातावरण बहुत कलुषित था। धर्म के नाम पर अंधविश्वासों का ही बोलबाला था। बाह्य आचरणों को प्रधानता दी जाती थी। हरेक अपने-अपने देवताओं की उपासना करता था। जितने लोग, उतने ही देवता—यही अधिकतर परिस्थिति थी। इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिये बलि भी चढ़ाई जाती थी, और ऊपर देखा जाता था कि स्वर्ग मिले। यहां भी स्वर्ग की स्थापना हो सकती है, यह वे भूल जाते थे। ऐसे समय में बसव धर्म की एक नई ज्योति लेकर लोगों के मध्य उतरे।

सबसे पहले बसव ने बहुदेवतोपासना की प्रथा का खंडन किया। इसकी उन्होंने कटु आलोचना की। कोई कंघी को

अपना देवता बना कर बैठा है तो कोई टोंटेदार लोटे को। इस प्रकार लोगों ने "अपने पग धरने के लिये भी खाली जगह नहीं रख छोड़ी"। बसव ने लोगों को समझाया—

"देव तो है एक ही; पर नाम हैं कई;
एक ही पति परम पतिव्रता नारी को।"

धर्म के नाम पर होने वाली जीव-हिंसा की बसव ने आलोचना ही नहीं, अवहेलना भी की—

"क्या उसकी रक्षा, जिससे भगवान् रूठ गया है,
भेड़ मरकर कर सकेगी ?"

बसव ने धर्म की परिभाषा सुन्दर रीति से की है। उनके अनुसार धर्म की जड़ दया है। उनकी यह उक्ति बहुत लोकप्रिय है—

दयविल्लद धर्म यावुदय्या,
दयए बेक्कु सकल प्राणिगळेल्लरल्लो।
दयए धर्मद मूलवय्या
कूडल संगमनंतल्ल दोल्लनय्या।
दया रहित धर्म क्या है, भाई !
दया ही चाहिये सकल प्राणियों को।
दया ही धर्म का मूल है भाई।
अन्य कुछ भी कूडल-संगम को प्रिय नहीं।

बसव ने यह कहकर कि संसार मायाजाल है। सांसारिक जीवन की निंदा कभी नहीं की। जैसा पहले कहा जा चुका है, उन्होंने कभी यह नहीं बताया कि स्त्री मोक्षमार्ग में बाधा है। उलटे यही कहा कि वह साधक है। सांसारिक जीवन पर अवलम्बित धर्म उत्तम है। दूसरे शब्दों में उन्होंने आत्म-पक्ष

के साथ लोक-पक्ष का समावेश किया। इस मर्त्यलोक को ही स्वर्गलोक बना सकते हैं, यही उनका उपदेश था—

"देवलोक मर्त्यलोकवेंबुदु बेरिल्ल काणियो।
सत्यव नुडिवुदे देवलोक, मिथ्यव नुडिवुदे मर्त्यलोक;
आचारवे स्वर्ग, अनाचारवे नरक—
कूडल संगमदेवा नीवे प्रमाणु।"

देवलोक, मर्त्यलोक यह भिन्न नहीं समझो, भाई।
सत्य बोलना ही देवलोक, असत्य बोलना ही मर्त्यलोक।
आचार ही स्वर्ग, अनाचार ही नरक।
हे कूडल संगमदेव, तुम्हीं प्रमाण।

यदि दूसरा कोई स्वर्ग माना भी जाय तो वह इसी मर्त्यलोक के जीवन पर अवलंबित हो सकता है। उनकी वाणी है—

"मर्त्यलोकवेंबुदु कर्तारन कम्मट्टवय्या।
इल्लिसल्लुववरु अल्लियू सल्लुवरय्या।
इल्लि सल्लदवरु अल्लियू सल्लरय्या।"

मर्त्यलोक कर्ता की टकसाल है।
यहां चलने वाले (सिक्के) वहां भी चलते हैं।
यहां न चलने वाले वहां भी नहीं चलते।

इन्द्रियभोग या विवाह को बसव ने कोई पाप या अपराध नहीं बताया; किन्तु परायी स्त्रियों पर मोहित होने का कटु विरोध किया। उनकी वाणी है—

"इन्द्रियनिग्रह करने से कई दोष उपजेंगे,
पचेंद्रिय बार बार सामने आकर सतायेंगी।"

"परस्त्री पर आँख उठाना नहीं; परस्त्री से मुँह खोलना नहीं।
भेड़ के पीछे-पीछे जाने वाले कुत्ते के समान नहीं होना चाहिए।
ऐसी लालसा से हजारों वर्षों तक कूडल संगमदेव नरक में गिरा देता है।"

जप-तप, याग-यज्ञ आदि बाह्य आचरणों का बसव ने विरोध किया। उन्होंने कहा—

"मृदुवचन ही समस्त जप।
मृदुवचन ही समस्त तप।
विनय ही सदाशिव को सन्तुष्ट करने का उपाय।"

सभी प्रकार के बाह्य आचरणों पर प्रहार करने में उनका कारण यही रहा कि लोग केवल उन्हीं बाह्य आचरणों के पीछे लगे हुए थे, अपने मन को स्वच्छ और शुद्ध रखने की ओर ध्यान नहीं देते थे। लोगों का यहाँ तक विचार था कि इन बाह्य आचरणों से ईश्वर की प्रीति प्राप्त हो सकती है। इसलिये बसव ने लोगों को मन के शुद्ध और उदात्त रखने की बार-बार प्रेरणा दी थी। उन्होंने यह भी बताया कि मन को शुद्ध रखने का क्या उपाय है—

कळबेड, कोलबेड, हुसिय नुडि यलु बेड;
मुनियबेड, अन्यरिगे असह्य पड बेड।
तन्नवाएणेस बेड, इदरहरियलु बेड,
इदे अंतरंगशुद्धि, इदे बहिरंगशुद्धि
इदे कूडलसंगमदेवर नोलिसुव परि।

चोरी न करो, हिंसा न करो, असत्य न बोलो।
क्रोध न करो; घृणा न करो।
आत्मस्तुति न करो, पर निंदा न करो।

यही अंतरंग शुद्धि, यही बहिरंग शुद्धि भी।
यही कूडल संगमदेव को प्रसन्न करने की रीत।

बसव ने जन्म-मरण आदि पंचसूतकों का भी खण्डन किया था। उन्होंने सूतक से मुक्त बाह्याडम्बर से रिक्त, भक्ति से युक्त सुमधुर जीवन बिताने की लोगों को प्रेरणा दी थी।

कन्नड साहित्य को देन

बसवेश्वर के कार्यों से सामाजिक या धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, कन्नड साहित्य में भी क्रांति हुई। सभी आचार्यों ने अधिकतर संस्कृत को ही अपने उपदेशों के लिये माध्यम के रूप में स्वीकार किया था। किन्तु इससे साधारण लोगों को क्या प्रयोजन हो सकता था। उनकी समझ में न आने वाले किसी माध्यम से कितना ही उच्च उपदेश क्यों न दिया जाय, वह व्यर्थ ही तो होगा। माध्यम वही हो, जिससे उपदेशों के भाव लोगों के हृदय तक पहुँच जायें और उनका अनुकरण आठों पहर उनके हृदय में होता रहे। यह तथ्य बसव ने देखा। अतएव उन्होंने लोगों की मातृभाषा को ही अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। कन्नड में जो संस्कृत छन्द प्रयुक्त होते थे, ये भी स्वीकार नहीं किये। उनका एकमात्र उद्देश्य था, अपने विचारों को जनता तक पहुँचाना। इसलिये उन्होंने गद्य को अपनाया। इससे बढ़ कर सरल मार्ग क्या और हो सकता था? गद्य के माध्यम से साधारण लोगों को जितना प्रभावित किया जा सकता है, उतना किसी और माध्यम से सम्भव नहीं है?

तो बसवेश्वर ने अपने उपदेशों को लोगों तक पहुँचाने के लिये गद्य के माध्यम को अपनाया। किन्तु इस गद्य की शैली

जैसी हम समझते हैं, वैसी नहीं है। उनके उपदेश उद्गार-से प्रतीत होते हैं। कभी कोरे गद्य का सा रूप हैं तो कभी मधुर तथा लयपूर्ण पद्य का-सा। इसलिये इसे गद्य-काव्य कहना ही उचित लगता है।

ये गद्य-काव्य 'वचन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अनुभव से पूर्ण उक्ति को 'वचन' कहा गया। कन्नड साहित्य में इस तरह के 'वचन' साहित्य के प्रवर्तक बसव ही हैं। बसव-वचन हजार से ऊपर हैं। प्रत्येक वचन हीरे जैसा कीमती है। बिहारी के दोहों के समान देखने में तो ये छोटे-छोटे हैं; परन्तु नाविक के तीर के समान सीधे हृदय पर घाव कर जाते हैं। जैसे बिहारी की सतसई पर पचासों ग्रन्थ लिखे गये है...वैसे ही बसव के वचनों पर पचासों ग्रन्थ लिखे गये है और लिखे जा रहे हैं।

'अनुभव-मंटप' के सदस्यों में दो प्रमुख सदस्य थे, अक्क-महादेवी और अल्लम प्रभुदेव। ये दोनों भी वचनकारों में अग्रणी माने जाते हैं। काव्यत्व की दृष्टि से बसव के वचन सर्वोपरि हैं तो संगीतात्मकता तथा माधुर्य की दृष्टि से अक्कमहादेवी के और ज्ञान की दृष्टि से अल्लम प्रभुदेव के वचन श्रेष्ठ माने जाते है।

इन्हीं वचनकारों के कारण 'वचन-साहित्य' 'कन्नड वेद' और 'कन्नड उपनिषद्' के नाम से गौरवान्वित हुआ है। इनके प्रभाव से जो वैचारिक क्रान्ति हुई थी, उसी के कारण कन्नड साहित्य के उस युग को 'विचार-स्वातन्त्र्य-युग' भी कहा जाता है।

जिस तरह तुलसी के हाथ में पड़ कर अवधी और सूर के हाथ में पड़ कर ब्रजभाषा अमर हो गयी, वैसे ही कन्नड भाषा

भी बसव के हाथ में पड़कर अमर हो गयी है। कन्नड भाषा की शब्द-शक्ति एवं साधक की सिद्धि यदि एक-साथ देखना हो तो वचन-साहित्य में ही देख सकते हैं।

कुछ चुने हुए वचन

बसवेश्वर के कुछ चुने हुए वचन यहां दिये जा रहे हैं।

[१]

बच्चल नीरु तिळिदिद्दरेनु ?
सल्लद होन्नु मत्तेल्लिद्दरेनु ?
आकाशदमाविनफळ वेंदरेनु ?
कोय्यलिल्ल, मेलसिल्ल
कूडलसंगम शरणर अनुभावविल्लदवरेल्लिद्दरेनु
एन्तादरेनु ?

स्नान-घर से निकलता पानी मलिन, यह न समझेंगे तो क्या करें ?
अप्राप्य सोना कहीं और हो तो क्या लाभ ?
आकाश-आम्रफल से क्या ?
वह न काटा जाता, न खाया जाता।
कूडल संगम शरण का अनुभव नहीं तो कहीं रहने से क्या है ?

[२]

बड पशु पंकदल्लि बिद्दोडे कालंबडिवुदल्लदे
बेरे गतियुन्टे ?
शिव-शिव ! होदरे होदहे नय्या !
निम्म मनदसल्केन्न केगयय्या !

पशुवानु; पशुपति नीनु !
वुडुगुणिगेंदु एन्न हिडिदु बडियद मुन्न,
ओडेय निम्म बय्यदन्ते माडु,
कूडल संगमदेव ।

छोटा जीव पंक में पड़े तो पैर छटपटाने के अलावा
अन्य क्या गति (मार्ग) ?
शिव-शिव कहने पर पार हो गया तो हो गया !
(क्योंकि) मैं पशु हूं, तुम पशुपति हो ।
मुझे चोर समझ पकड़ कर पीटने के पहले
गाली देने के पहले मेरी रक्षा करो ।
कूडलसंगमदेव !

[३]

बयल रूप माडबल्लातने शरण
आ रूप बयलमाडबल्लातने लिंगानुभावी
बयल रूप माडलरियदिद्धरे एन्तु शरणनेंबे ?
आ रूप बयलमाडदिद्दरे एन्तु लिंगानुभावि एंबे ?
ई उभय ओंदादडे निम्मल्लि तेरडन्टे,
कूडल संगमदेव !

आकाश को रूप में परिवर्तन करने वाला भक्त;
(उस) रूप को आकाश में (पुनः) परिवर्तन करने वाला लिंगानुभवी;
आकाश को रूप में परिवर्तन न कर सकने वाला भक्त कैसे ?
उस रूप को आकाश में परिवर्तन न कर सकने वाला लिंगानुभवी कैसे ?
ये उभय एक होने पर आप में स्थान है,
कूडलसंगमदेव !

[४]

पुण्यपापवेंबवु नम्म इष्टव कंडिरो,
अय्या एन्दड़े स्वर्ग, एलो एंदड़े नरक !
देव, भक्त, जय, जीय एंब नुडियोळ्गे
कैलास बेंदुदे कूडल संगमदेव !

पुण्य-पाप आपकी इच्छा पर; देखिये ।
मृदुशब्द ही स्वर्ग, परुषशब्द ही नरक ।
देव, भक्त, जय, जीय ऐसे शब्दों में
कैलास रहता है, कूडलसंगमदेव ।

[५]

बेविन बीजव बित्ति,
बेल्लद कट्टेय कट्टी
आकळ हालु नेरेदु,
जेनुलुप्पव होयदरे,
सिहियाग बल्लुदे कहियहुदल्लदे ?
शिवभक्तरल्लदवर कूडे मुडियलागदु
कूडलसंगमदेव !

नीम के बीज को बो कर,
गुडका चबूतरा बांधकर (भी),
गाय के दूध से सींच कर (भी),
(और) शहद डाल कर (भी)
विषैला नहीं तो मीठा कैसे हो सकता है ?
(इसलिये) शिवभक्त जो नहीं उनके संग न रहना
(उनसे) न बोलना, कूडलसंगमदेव ।

[६]

मनेयोळगे मनेयोडेयनिद्दानो इल्लवो ?
होस्तिलक्षी हुल्लुहुट्टी;
मनेयोळगे रजतुंबि;
मनेयोळगे मनेयोडेय निद्दानो इल्लवो ?
तनुविनोळगे हुसितुंबि;
मनदोळगे विषयतुंबि;
मनेयोळगे मनेयोडेयनिल्ला
कूडलसंगमदेव !

घर के अन्दर मालिक है क्या ?
आंगन में घास पैदा हुई है;
घर के अन्दर धूल भरी है;
(तो) घर में मालिक है क्या, यह प्रश्न कैसे ?
तन में असत्य भरा है;
मन में विषय भरा है;
सच है, घर के अन्दर मालिक नहीं;
कूडलसंगमदेव।

[७]

माडि माडि केट्टरु मनविल्लदे,
नीडि नीडि केट्टरु निजविल्लदे,
माडुव, नीडुव निजवुळ्ळरे,
कूडिकोंडिप्प नम्म,
कूडलसंगमदेव !

मन के बिना कर-कर बुरा हो गया;
सत्य के बिना दान दे-देकर बरबाद हो गया;

करने में, देने में निस्वार्थ भाव रहा
(तो) आप ही में समाविष्ट है;
कूडलसंगमदेव।

[८]

मेरुगुणव नरसुवुदे कागेयल्लि ?
परुषगुणव नरसुवुदे कब्बुनदल्लि ?
साधुगुणव नरसुवुदे अवगुणियल्लि ?
चंदनगुणव नरसुवदे तरुगळल्लि ?
सर्वगुणसंपन्न लिंगवे,
नीनेन्नल्लि, अवगुणवनरसुवदे
कूडलसंगमदेव !

मेरु पर उड़ने का गुण कौए में खोजते हो ?
पारसमणिका गुण लोहे में खोजते हो ?
साधुगुण अवगुणि में खोजते हो ?
चन्दन का गुण (सभी) वृक्षों में खोजते हो ?
हे सर्वगुणसम्पन्न लिंग !
तुम्हारे मुझमें अवगुण खोजने से क्या प्रयोजन ?
कूडलसंगमदेव।

[९]

लोकद डोंक नीवेक्के तिद्दुविरि ?
निम्म निम्म तनुव संतैसि कोळ्ळि !
निम्म निम्म मनव संतैसिकोळ्ळि।
नेरेमनेयवर दुःखक्के अलुववर मेच्च
कूडलसंगमदेव।

लोक के टेढ़ापन को सीधा करने तुम क्यों तैयार होते हो;
अपने अपने तन को संतुष्ट करो,
अपने अपने मन को संतुष्ट करो,
पास के घर वालों के दुःख को रोने वाले पर
कूडलसंगमदेव प्रसन्न नहीं।

[१०]

व्याधनोंदु मोलवतंदरे, सलुव हागक्के विलिवरय्य,
नेलनाळ्वन हेणनेंदरे, ओंदडके कॊणबुवरिल्ल, नोडय्या
मोलनिंद करकष्ट नरन बालुवे,
सले नंबो नम्म कूडलसंगमदेव !

व्याध खरगोश लावे तो उचित मूल्य पर खरीदते हैं;
राजा का शव ले आये तो एक सुपारी के टुकड़े के मूल्य
पर उसे कोई खरीदेगा नहीं;
खरगोश से भी नीचा ही नर का जीवन;
(अतः) हमारे कूडलसंगमदेव पर विश्वास रखो।

[११]

बंदुद कैकोळ्ळवल्लरे नेम;
इछुद वंचनेय मादद्दिरे, अदु नेम;
नडेदु तप्पदिद्दरे, नेम;
नुडिदु हुसियदिद्दरे, अदु नेम;
नम्म कूडलसंगमन शरणरु बंदरे
ओडेयरिगोडवेय-नर्पिसुवदे नेम।

आयात को स्वीकार करना ही नियम;
जो है उससे वंचित न होने देना ही नियम;
बिना गलती के चलना ही नियम

बात को झूठ न बनाना ही नियम;
हमारे कूडलसंगमदेव आये तो
मालिक की वस्तु को अर्पण करना ही नियम है।

[१२]

तनगे मुनिवरिगे ता मुनियलेकय्या ?
तनगादड़ेगेनु ? अवरिगादड़ेगेनु ?
तनुविन कोप तन्न अरुहिन केडु;
मनेयोळगिन किच्चु मनेय सुट्टल्लदे;
नेरे मनेय सुडदु, कूडलसंगमदेव !

हमसे क्रुद्धों से हमारा क्रोध क्यों ?
हानि चाहे हमारी हो, हानि चाहे उनकी हो,
तन का क्रोध हमारी महत्ता के लिये दोष है;
मन का क्रोध हमारे ज्ञान के लिये दोष है,
हमारे घर के अन्दर की आग हमारे घर को ही जलाती है
न कि पड़ौस के घर को, कूडलसंगमदेव।

[१३]

जीरकंडल्लि मुळुगुवरय्या;
मरनकंडल्लि सुत्तुवरय्या;
बत्तुव जलवनोणगुवमरन
मेच्चिदवरु निम्मनेत्तबल्लरु,
कूडलसंगमदेव।

जल जहां कहीं दिखे, उसमें स्नान करते हैं
पेड़ जहां कहीं दिखे, उसका चक्कर काटते हैं;
सूखने वाले जल और सूखने वाले पेड़ पर
विश्वास रखने वाले तुम्हें क्या जानेंगे ?
कूडलसंगमदेव !

[१४]

नादप्रिय शिवनेंबरु, नादप्रिय शिवनल्लय्या;
वेदप्रिय शिवनेंबरु वेदप्रिय शिवनल्लय्या,
नादव माडिद रावणगे अरेयायुज्यवयितु;
वेदव नोदिद ब्रह्मन शिरहोयितु;
नादप्रियनू अल्ल, वेदप्रियनू अल्ल,
भक्तिप्रिय नम्म कूडलसंगमदेव !

शिव नादप्रिय है, लोग कहते हैं; किन्तु शिव नादप्रिय नहीं;
शिव वेदप्रिय है, लोग कहते हैं; किन्तु शिव वेदप्रिय नहीं,
नाद कर-करके रावण की आयु आधी बीती;
वेद पढ़-पढ़कर ब्रह्मा का सिर गया,
शिव नादप्रिय भी नहीं, वेदप्रिय भी नहीं
भक्ति प्रिय है; कूडलसंगमदेव।

[१५]

चेळिंगे बसुदाद्दे कडे,
बाळेगे फलवाद्दे कडे,
रणरंगदल्लि ओलेकारेंगे
ओसरिसिद्दे कडे
माडुव भक्तगे मनहीनवादरे
अदे कडे, कूडलसंगमदेव।

बिच्छू का गर्भ होने पर अन्त;
केले के पेड़ का फल लगने पर अन्त;
रणरंग में सिपाहियों का

दूर खाना अन्त
भक्त का मन हीन हो
तो उसका अन्त, कूडलसंगमदेव।

[१६]

माडिदेनेंबुदु मनदल्लि होलेदरे
एडिसि कडित्तु शिवन-ढंगुर।
माडिदेनेन्नदिरा लिंगक्के
माडिदेनेन्नदिरा जंगमक्के
माडिदेनेंबुदु मनदल्लि होले यदि छरे
वेडिदनीव कूडलसंगमदेव।

मैंने किया, यह विचार मन में उत्पन्न हुआ
(तो) शिव का डंका बाधा बन जाती है।
लिंग के लिये मैंने किया, यह विचार नहीं होता,
जंगम के लिये मैंने किया, यह भी विचार नहीं होता,
मैंने किया, यह विचार मनमें उत्पन्न नहीं हुआ
(तो) कूडलसंगमदेव प्रसन्न हो जाता है।

[१७]

नुडियल्लि यच्चत्तु
नडयल्लि तप्पिदरे
हिडिदिप्प लिंग घटसर्प नोडा,
नुडियलु बारदू
नययलू बारदू
लिंगदेवने दिव्य।

बात में जाग्रत होकर भी
चाल में भूल हुई तो

हथेली पर जो लिंग है, घट-सर्प बनेगा, समझो,
बात में भी भूल न हो,
चाल में भी भूल न हो
लिंगदेव ही दिव्य है।

[१८]

बडवन कोप दवडॆगॆ मृत्युवादंतॆ
कडॆगॆ दांटतु काणा
कूडलसंगमदेव !

गरीब का कोप जबड़े के लिये मृत्यु है;
बाहर नहीं आता देखो
कूडलसंगमदेव।

[१९]

नूरनोदि नूरकेळिदनेनु ?
आसॆ हरियदु रोष बिडदु;
मज्जनक्कॆरॆदु फलवेनु !
मातिनंतॆ मनविल्लद जातिएँवर नोडि
नगुव नम्म कूडलसंगमदेव !

सौ (ग्रन्थ) पढ़कर भी, सौ (ज्ञानियों) को सुनकर भी
मोह छूटता नहीं; रोष छूटता नहीं,
मज्जन (लिंगाभिषेक) से फल क्या है ?
बात है, (पर) मन नहीं, ऐसे जन्म से (एक प्रकार के खिलाड़ी) लोगों को देखकर
हमार कूडलसंगमदेव हंसता है।

उळ्ळवरु शिवालय माडुवरु,
नानेन माडलय्या बडवनु;
एन्न काले खंभ;
देहवे देगुल,
शिरवे होन्नकलशवय्या !
कूडलसंगमदेव केळय्या !
स्थावरक्कळिवुंटु जंगमक्कळिविल्ल !

धनी शिवालय बनाते हैं;
मैं क्या बनाऊँ ? निर्धन (हूँ);
मेरे पैर ही खम्भे (हैं);
देह ही देवालय (है);
शिर ही स्वर्णकलश है; भाई,
कूडलसंगमदेव सुनिये;
स्थावर को नाश है; जंगम को नहीं।

उपसंहार

बसव को कर्नाटक के लूथर और दक्षिण भारत का बुद्ध कहा जा सकता है। बुद्ध, बसव और बापू गांधी इन तीनों ने समान कार्य ही किया है। ईसवी पूर्व छठी शताब्दी तथा ई० सन् बारहवीं और बीसवीं शताब्दी—ये तीनों शताब्दियां महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं, क्योंकि इन्हीं तीनों शताब्दियों में साधारण जनता मानवता की ओर आगे बढ़ने को प्रेरित की गयी थी।

बसव मानवत्व से दैवत्व तक पहुँच कर, अपूर्णत्व से पूर्णत्व तक पहुँच कर बसवेश्वर बने। वीरशैव लोगों ने उनको 'नंदी का अवतार' कहा है। बसवेश्वर का पावन नाम तारक-मंत्र है। इसके प्रत्यक्ष लक्ष्य के लिए यही पर्याप्त है कि बसव जयंती प्रतिवर्ष (वैशाख शुक्ल तृतीया) कर्नाटक के कोने-कोने में भरपूर उत्साह के साथ मनायी जाती है।

बसव को 'अण्णा' अर्थात् बड़ा भाई भी कहते हैं। 'अण्णन बळग' के नाम से कई संस्थाएँ चलती हैं। अनुयायियों ने बसव को 'भक्ति भण्डारी', 'वचन वाङ्मयाचार्य', 'वीरशैवमत-सार्वभौम' आदि उपाधियों से विभूषित किया है।

बसवेश्वर के ही एक दो वचनों के साथ ही इसे समाप्त करना उचित प्रतीत होता है—

एन्न कायव दंडिगेय माडय्य;
एन्न शिख सोरय माडय्य;
एन्न नख तंतिय माडय्य;

एन्न बेरल कड्डिय्य माडय्य;
बत्तीस रागव हाडय्य;
उदरद ळोत्ति बारिसु;
कूडलसंगमदेव।

मेरे काय को दाँड बनाओ;
मेरे सिर को तूंबी बनाओ;
मेरी नस को तार बनाओ;
मेरी उंगली को ताली बनाओ,
बत्तीस राग गाओ;
उदर पर रखकर खूब बजाओ;
कूडलसंगमदेव !

एत्तंत्त नोडिददत्त नीने देव !
सकल विस्तारद रुह नीने देव !
विश्वतो बाहु नीने देव !
विश्वतो चक्षु विश्वतोमुखी नीने देव !
विश्वतो पाद नीने देव !
कूडलसंगमदेव।

जहाँ देखता हूँ, तुम्हीं हो, देव !
सकल विस्तार (अंतरिक्ष) का रूप तुम्हीं हो, हे देव !
विश्व बाहु तुम्हीं हो, हे देव !
विश्व चक्षु, विश्व मुख तुम्ही हो, हे देव !
विश्व पाद तुम्हीं हो, हे देव !
हे कूडलसंगमदेव।

परिशिष्ट

(वीरशैव धर्म में प्रयुक्त होने वाले कुछ शब्दों का परिचय)

१. अनुभाव—निज के या भगवान् के अनुभव का साक्षात्कार।

२. आरूढ़—दुनियादारी से परे; पहुँचे हुए।

३. नायक नरक—घोर नरक।

४. लिंगशरीरी—लिंगमय शरीर; भगवन्मय शरीर; पहुँचा हुआ भक्त।

५. शरण—पहुँचा हुआ शिवभक्त।

६. शिवाचार—शिवभक्ति।

७. गुरु—धर्मदर्शी, धर्मदीक्षा देनेवाला होने के कारण गुरु का गौरव अपने माता-पिता से भी अधिक समझा जाता है। भक्त को भगवान् से ऐक्य करनेवाला होने के कारण गुरु का आदर अपने भगवान् से भी अधिक किया जाता है। भक्ति के क्षेत्र में गुरु का स्थान सर्वोच्च है।

८. लिंग—यह भगवान् की प्रतीक प्रस्तर मूर्ति है। यह पहले से ही भक्त के शरीर पर चैतन्य रूप से विद्यमान रहता है और दीक्षा के समय गुरु उस चैतन्यरूपी भगवान् को लिंग का आकार देकर उसी भक्त के हाथ में दे देता है। इस लिंग के प्रति भक्त को चाहिये कि वह प्रतिदिन अनन्यभाव से भक्ति करे। भक्त इस लिंग को अपने शरीर पर सर्वदा धारण

किये रहता है। इसे अपने शरीर से त्यागना धार्मिक मृत्यु के समान समझा जाता है।

९. जंगम—गुरु का पूज्य स्थान ग्रहण करनेवाला। स्थावर वस्तु से विपरीत अर्थवाली **गतिमान** वस्तु का बोध होता है। तभी तो जंगम जो कि वीरशैवों में मुमुक्षु होता है। किसी एक स्थान पर टिकता नहीं; यदि लिंग को स्थलमूर्ति समझ लें तो जंगम को **चरमूर्ति** समझना चाहिये। धर्म और नीति का उपदेश देता हुआ स्थान-स्थान पर पहुँचना उसका कर्तव्य होता है।

बहुधा गुरु, लिंग और जंगम में कई भेद नहीं माना जाता है।

१०. दासोह—गुरु लिंग और जंगम के लिये किंकर भाव से दिया जाने वाला भोजन; गुरु के लिये तन, लिंग के लिये मन और जंगम के लिये धन देना त्रिविध दासोह कहलाता है।

११. षट्स्थल—किसी भी वीरशैव के आध्यात्मिक जीवन के उत्थान के छः सोपानों की कल्पना की गयी है :—

भक्त स्थल—इसमें अविद्या से घेरे हुये जीवात्मा का मन पहली बार भगवान् के चिंतन के प्रति लगाना है।

महेश्वर स्थल—इसमें जीवात्मा अपने में निहित अहम् की भावना और पंच क्लेशों को जीत लेता है और जग-भलाई के लिये पूरे दिल से तत्पर रहता है।

प्रसादि स्थल—इसमें जीवात्मा निष्काम कर्म करने लगता है। **भगवान् का कृपा-पात्र बन जाता है।** प्रत्येक वस्तु को भगवान् की कृपा या प्रसाद समझने लगता है।

प्राणलिंग स्थल—इसमें जीवात्मा अपने आत्मा (प्राणों) में ही परमात्मा की धुंधली छाया को पहचानने के कारण शिवयोग में लग जाता है। बाहर भटकना बन्द कर देता है।

शरण स्थल—इसमें जीवात्मा की भक्ति केवल भक्ति न रहकर उसमें ऊँचा आत्मत्याग का रूप धारण कर लेती है।

ऐक्य स्थल—इसमें जीवात्मा परमात्मा में पूर्ण रूप से ऐकमेक हो जाता है और परमात्मा से भिन्नस्वरूप जीवात्मा का होता नहीं है। जीवात्मा परमात्मा में एकाकार हो जाता है।

इसी को षट्स्थल सिद्धान्त कहते हैं।

१२. सूतक—जाति, जनन, मरण, रजस्सु और उच्छिष्ट नामक पांचों सूतक वीरशैव के लिये नहीं होते हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर

[सन् १२७१—१२९२]

●

रामशिरके

पैठन

भारत की पवित्र नदियों ने केवल खेतों को ही नहीं हमारी संस्कृति के उद्यानों को भी शताब्दियों से सींचा है। भारतीय संस्कृति ने नदियों के तट पर जन्म लिया तथा यह वहीं फली और फूली। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने नदियों को पवित्र मानकर विशाल तीर्थस्थानों का, मन्दिरों का, विद्यापीठों का और, धर्मपीठों का उनके तटों पर निर्माण किया। ऐसी ही पवित्रतम नदियों में गोदावरी का स्थान है। भारतीयों के लिए गगा जितनी पवित्र है उतनी ही गोदावरी महाराष्ट्रियों द्वारा पवित्र मानी जाती है। गोदावरी के रूप में महाराष्ट्र की संस्कृति का प्रवाह शताब्दियों से बहता रहा है। गोदावरी ने महाराष्ट्र की भूमि को केवल उपजाऊ ही नहीं, पवित्र भी बनाया है। यही कारण है कि मराठी साहित्य को अलंकृत करने वाले संत कवियों ने महाराष्ट्र में जन्म लिया। गोदावरी सच्चे अर्थों में महाराष्ट्र का जीवन-स्रोत है! गोदावरी के सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि गौतम ने उसे भगवान् शंकर की जटाओं से प्राप्त किया था। वास्तव में वह गंगा ही थी जिसे गोदावरी कहा जाने लगा। त्र्यंबकेश्वर नामक स्थान पर स्वर्ग में से उसने भूमि पर पदार्पण किया। वहीं से वह दक्षिण की ओर चल पड़ी।

महाराष्ट्र की प्राचीन राजधानी पैठण इसी नदी के तट पर बसी हुई है। पैठण का नाम था—प्रतिष्ठान। महाराष्ट्र के शासकों ने यहीं से प्राचीन काल में महाराष्ट्र पर राज्य किया था। पैठण का अधिक महत्त्व तो विद्वानों के वास्तव्य के

कारण रहा, जिससे वह महाराष्ट्र की सांस्कृतिक राजधानी बनी हुई थी। शासकीय राजधानी का गौरव नष्ट होने पर भी पैठण का सांस्कृतिक महत्त्व कम न हुआ। उत्तर भारत में काशी क्षेत्र को जो स्थान प्राप्त है वही दक्षिण में पैठण ने अपने लिए प्राप्त कर लिया था। इसे दक्षिण काशी कहा जाता था।

पूर्वज

पैठण से लगभग आठ मील की दूरी पर एक गाँव है। "आपेगांव"। सुप्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर के पूर्वज इसी गांव के कुलकर्णी (पटवारी) थे। ये कुलकर्णी माध्यंदिन शाखा के यजुर्वेदी देशस्थ* ब्राह्मण थे। सन्त ज्ञानेश्वर जी के प्रपितामह हरिहर पन्त से उनके पूर्वजों की जानकारी प्राप्त होती है। भगवद्भक्ति की परम्परा इनके यहाँ पहले से ही चली आ रही थी।

हरिहर पन्त के दो पुत्र और एक कन्या थी। इनमें से ज्येष्ठ पुत्र का नाम रामचन्द्रपन्त और दूसरे का नाम केशवपंत था। कन्या का नाम मोहनाबाई था। हरिहरपन्त जी की मृत्यु के पश्चात् रामचन्द्रपन्त भी पटवारी का काम करने लगे। रामचन्द्रपन्त के पुत्र का नाम गोपालपन्त था। इन्हीं गोपालपन्त का पुत्र त्र्यंबकपन्त यादवशासनकाल में बीड प्रांत के देशाधिकारी (सूबेदार) के पद पर था। (शके ११२९, ई. सं. १२०७) त्र्यंबकपन्त के भी गोविंदपन्त और हरिहरपन्त नामक दो पुत्र थे। हरिहरपन्त यादव राजा सिंहराज ऊर्फ सिंघण की सेना में नौकर था। एक युद्ध में जब हरिहरपन्त

*महाराष्ट्र का पूर्व भाग 'देश' कहलाता है।

मारा गया तो त्र्यंबकपन्त जी को भारी आघात पहुँचा और उन्होंने देशाधिकारी के पद से त्यागपत्र दे दिया। वे 'आपेगांव' चले आये और वहीं पर अत्यन्त उदासीन स्थिति में दिन बिताने लगे।

आपेगांव के कुलकर्णी घराने की अतिथि-सत्कार के लिए बड़ी कीर्ति फैली हुई थी। उनकी इस कीर्ति के कारण उनके यहाँ सदा सन्तों का आवागमन रहा करता था। एक बार गुरु गोरखनाथ भी उनके यहाँ आ पहुँचे। त्र्यंबकपन्त जी ने गुरु गोरखनाथ से नाथपन्थ की दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार सन्त ज्ञानेश्वर जी के घराने का नाथ पन्त से सदा के लिए सम्बन्ध स्थापित हो गया। त्र्यंबकपन्त जी की समाधि आपेगांव में स्थित है।

त्र्यंबकपन्त जी का देहान्त हो जाने के बाद कुलकर्णी का पद उनके पुत्र गोविन्दपन्त जी ने सन् १२०३ ई० में सम्हाला। इनकी पत्नी का नाम नीराबाई था। पुत्र न होने के कारण गोविन्दपन्त और उनकी पत्नी बड़े दु:खी रहा करते थे। उनकी आयु काफी हो चुकी थी, परन्तु उन्हें पुत्र-प्राप्ति न हुई।

योगायोग की बात कि गोरखनाथ के शिष्य गहिनीनाथ एक बार उनके यहाँ आ पहुँचे। गोविन्दपन्त और उनकी पत्नी ने अपनी सेवा से गहिनीनाथ जी को प्रसन्न कर लिया। उन्होंने गहिनीनाथ से पुत्र-प्राप्ति के लिए आशीर्वाद भी प्राप्त कर लिया। गहिनीनाथ जी योग (सम्प्रदाय) के आचार्य थे। गोविन्दपन्त जी को दीक्षा देकर उन्होंने अपने सम्प्रदाय का अनुयायी बना लिया।

गोविन्दपन्त अपनी पचपनवें वर्ष में पिता बने। पुत्र पैदा

हुआ तब नीराबाई भी लगभग पेंतालीस वर्ष की हो चुकी थी। पुत्र का नाम विठ्ठल रखा गया।

योग सम्प्रदाय की दीक्षा-प्राप्त, भगवद्भक्ति की परम्परा से युक्त ऐसे ब्राह्मण कुल में बालक विठ्ठल बढ़ने लगे। उन दिनों पैठण में समस्त देश के विद्वान् आया करते थे। धर्म-विषयक वादविवाद वहाँ निरन्तर चला करते थे। चर्चाएँ चलती थीं। प्रवचन, कथा, कीर्तन चलते रहते थे। वेदान्त, सांख्यशास्त्र या न्यायशास्त्र पर शास्त्रार्थ चलते थे। जैन और बौद्ध पण्डित भी आते थे और उनके साथ भी धार्मिक वाद-विवाद चलते थे। गोविन्दपन्त अपने पुत्र को धर्मपीठ पैठण में सदा ले जाते थे। बालक विठ्ठल वाद-विवाद, कथा-कीर्तन तथा प्रवचन आदि बड़े ध्यान से सुना करता। धीरे-धीरे विठ्ठलपन्त ने सब विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

पैठण के इस धार्मिक वातावरण का विठ्ठलपन्त पर गहरा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप, तीर्थयात्रा करने की इच्छा उनके हृदय में अंकुरित हुई। बड़ी कठिनता से उन्होंने अपने माता-पिता की अनुमति प्राप्त की। एक तो बुढ़ापे में हुई सन्तान थी और दूसरे विठ्ठलपन्त ही गोविन्दपन्त के एकमात्र आधार थे। उन्होंने हृदय पर मानो पत्थर रख लिया और तीर्थ-यात्रा पर जाने की अनुमति दे दी। तीर्थ-यात्रा के लिए जब विठ्ठलपंत ने गृहत्याग किया तो उनकी उम्र केवल पन्द्रह वर्ष की थी।

विठ्ठलपन्त ने द्वारका, पिंडारक तीर्थ, भालुका तीर्थ, गिरनार, सप्तशृंगी आदि तीर्थस्थानों की यात्रा की। तीर्थ-यात्रा करते-करते वे श्रीक्षेत्र आलंदी आ पहुँचे। श्रीक्षेत्र आलंदी इन्द्रायणी के तट पर बसा हुआ है। वे वहाँ सिद्धेश्वर के मन्दिर में ठहरे थे।

आलंदी के पटवारी शिधोपन्त प्रतिदिन सिद्धेश्वर के दर्शनों के लिए मन्दिर में आते थे। मन्दिर में ठहरे हुए विठ्ठलपन्त की ओर उनका ध्यान गया। शिधोपन्त ने ही विठ्ठलपन्त की पूछताछ की। शिधोपन्त विठ्ठलपन्त के व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। इसलिए उस अपरिचित युवा यात्री विठ्ठलपन्त से उन्होंने अपने घर चलने का आग्रह किया और उन्हे साथ लेकर घर पहुँचे।

शिधोपन्त की एकमात्र सन्तान एक कन्या थी। लड़की का नाम रूक्मिणी था। शिधोपन्त ने जब से विठ्ठलपन्त को देखा उनके मन में विठ्ठलपन्त को अपना दामाद बनाने की भावना दृढ़ हो गयी। विट्ठलपन्त भी रुक्मिणी से विवाह करने को तय्यार हो गये।

विवाह के पश्चात् विट्ठलपन्त अपनी पत्नी को लेकर अपने ग्राम 'आपेगांव' लौटे वहां उनके वृद्ध माता-पिता उनकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे।

कुछ वर्षों के पश्चात् जब विठ्ठलपन्त के माता-पिता का स्वर्गवास हो गया तो विठ्ठलपन्त के हृदय में विरक्ति की भावना जागृत हो गयी। वैसे तो वे बचपन से ही विरक्त थे। विवाह होने पर भी सांसारिक सुख में विठ्ठलपन्त का मन नहीं लगा। वे उदासीन रहने लगे। गृहस्थी में उनका मन नहीं लगा। विवाह हुए कई वर्ष हो गये थे, लेकिन सन्तान पैदा होने का चिह्न नहीं था। सन्यास लेने की इच्छा उनके मनमें बार-बार उठने लगी। परन्तु अपनी पत्नी की अनुमति वे नहीं प्राप्त कर सके। इधर उनके ससुर शिधोपन्त आये और अपने दामाद को आलंदी ले गए।

कुछ समय ससुराल में रहने के बाद भी संन्यास लेने की

उनकी इच्छा कम नहीं हुई। वे रुक्मिणी से संन्यास की अनुमति बार-बार मांगा करते थे, लेकिन उसने वह कभी नहीं दी। एक दिन उन्होंने पत्नी से कहा, "मैं गंगा-स्नान के लिए जाता हूँ..." रूक्मिणी का ध्यान नहीं था। उसने यह सोचकर कि वे नित्यानुसार इन्द्रायणी पर स्नान के लिए जा रहे हैं, अनुमति दे दी। विठ्ठलपन्त ने पत्नी की उस स्वीकृति को संन्यास के लिए सम्मति मान कर उसी क्षण अपनी गृहस्थी का त्याग कर दिया। वे सचमुच ही गंगा-स्नान के लिए काशी की ओर चल पड़े।

विठ्ठलपन्त काशी जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने रामानन्द स्वामी (यति) को यह कह कर कि 'मेरे पीछे स्त्री-पुत्रों का पाश नहीं है' संन्यास की दीक्षा ले ली। संन्यास लेने पर विठ्ठलपन्त का नाम चैतन्याश्रम रखा गया। कुछ ग्रन्थों में रामानन्द स्वामी के स्थान पर श्रीपाद स्वामी यह नाम पाया जाता है।

एक बार विठ्ठलपन्त (चैतन्याश्रम) के गुरु रामानन्द तीर्थयात्रा के निमित्त आलंदी आ पहुंचे। वे सिद्धेश्वर के मन्दिर में ही ठहरे थे। रूक्मिणी पीपल के वृक्ष की पूजा करने के लिए प्रतिदिन मन्दिर आया करती थी। एक दिन पीपल की परिक्रमा पूरी कर लेने पर उसने सामने एक संन्यासी को देखा तो उनके चरण छू कर उसने वन्दन किया। संन्यासी के मुँह से आशीर्वाद निकल गया—'पुत्रवती भव'।

रूक्मिणी की आंखें भर आयीं। उसने संन्यासी को यह बात बता दी कि उनका आशीर्वाद सार्थक नहीं हो सकता। रुक्मिणी से सब वृत्तान्त ज्ञात होने पर संन्यासी के मन में आशंका उत्पन्न हुई कि उनके पास चैतन्याश्रम नाम का जो संन्यासी है वही इस स्त्री का पति होगा। उन्होंने रुक्मिणी

और शिधोपन्त को साथ लिया और काशी चल पड़े। वहाँ पहुँचते ही सारा रहस्य खुल गया। उन्होंने विठ्ठलपन्त को गृहस्थाश्रम में पुनः प्रवेश करने की आज्ञा दी। गुरु की आज्ञा मान कर विठ्ठलपन्त आलंदी आकर अपनी पत्नी के साथ रहने लगे।

विठ्ठलपन्त का दुबारा गृहस्थाश्रम-प्रवेश विशेषरूप में ब्राह्मणों की आलोचना का विषय बन गया। संन्यासी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की अनुमति नहीं है। उनके स्वकीय और सम्बन्धी लोगों ने, विशेष कर्मठ (कर्मकांडी) ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार कर दिया। विठ्ठलपन्त के गृहस्थाश्रम प्रवेश को एक अक्षम्य अपराध माना गया और कर्मकाण्डी ब्राह्मण उनके विरुद्ध सामाजिक रोष पैदा करने में लग गये। विठ्ठलपन्त को अस्पृश्यों से भी हीन समझा जाने लगा। उन्हें घाट पर पानी भरने की मनाही हो गयी। सिद्धेश्वर के मन्दिर में उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बनिये ने सौदा देना बन्द कर दिया। ग्वालों ने दूध देना बन्द किया। तेली के यहां से तेल मिलना बन्द हो गया। चमारों तक ने जूते देने से इन्कार कर दिया। इस सामाजिक बहिष्कार का स्वरूप बड़ा उग्र था। अस्पृश्यों से भी भयानक स्थिति का उन्हें सामना करना पड़ा। विठ्ठलपन्त की गृहस्थी को जैसे चारों ओर से उठने वाली आग की लपटों ने घेर लिया था।

आलंदी में कर्मठ ब्राह्मणों ने ग्रामवालों की सभा बुलायी और शिधोपन्त को इस सभा में आदेश दिया गया कि वह अपने संन्यासी दामाद को घर से बाहर निकाल दे, अन्यथा उसको भी सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ेगा। गांव के नेता शिधोपन्त की एक भी बात सुनने को तैयार न

थे। गांव के उग्र बहिष्कार के आगे विठ्ठलपन्त को झुकना ही पड़ा। विठ्ठलपन्त अपनी पत्नी रुक्मिणी को लेकर ससुर के यहां से चल दिए।

गांव के निकट ही एक एकान्त स्थान था। इस स्थान का नाम सिद्धबेट था। इस स्थान को चौरासी सिद्धों का स्थान माना जाता था। वहीं पर एक छोटी-सी कुटिया बना कर विठ्ठलपन्त और उनकी पत्नी रहने लगे।

एक दिन विठ्ठलपन्त के सास-ससुर उन्हें इस संसार में अकेला छोड़ कर चल बसे।

जन्म और शैशव

शके ११९० (ई. स. १२६८) में रुक्मिणी ने प्रथम पुत्र श्री निवृत्तिनाथ को जन्म दिया। शके ११९३ (ई. स. १२७१) में सन्त ज्ञानेश्वर का जन्म हुआ। तीन साल बाद सोपानदेव और उसके तीसरे वर्ष मुक्ताबाई का जन्म हुआ। इन बालकों के जन्म-वर्ष के सम्बन्ध में विद्वानों में गम्भीर मतभेद हैं। अभी ऐसा वर्ष निश्चित नही हो सका है जो सर्वमान्य हो।

सन्त ज्ञानेश्वर का जन्म श्रावण वदी (गोकुल अष्टमी) के दिन रात्रि के बारह बजे हुआ था, ऐसी श्रद्धालु लोगों की भावना है। इसीलिए उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार भी माना जाता है। पंढरपुर का विठ्ठल मन्दिर महाराष्ट्र का स्फूर्ति स्थान और सर्वश्रेष्ठ तीर्थस्थान माना जाता है। विठ्ठल मन्दिर में विठोबा और रुक्मिणी की मूर्तियां है। स्मरण रहे सन्त ज्ञानेश्वर जी के माता-पिता का भी यही नाम था। इस बात को श्रद्धालु लोग एक दैवी चमत्कार ही मानते हैं। विठ्ठलपन्त के बच्चों के भी नाम थे—निवृत्ति, ज्ञानेश्वर,

सोपान और मुक्ता। इसीलिए हरिदासों में एक कहावत प्रसिद्ध है कि—'संसार से निवृत्त होकर ज्ञानरूपी सोपान चढ़ना चाहिए और मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए।' यह ठीक ही है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को संसार से मुक्त होना पड़ता है और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है।

सन्त जनाबाई ने भक्ति-भाव से कहा है—

"सदाशिवाचा अवतार। स्वामी निवृत्ति दातार।
महाविष्णूचा अवतार। सखा माझा ज्ञानेश्वर॥
ब्रह्म सोपान तो झाला। भक्ता आनन्द वर्षला।
मुक्ताबाई मूळ माया। दासी जनी लागे पायां॥"

अर्थात् मेरे गुरु निवृत्ति भगवान शंकर के अवतार हैं। मेरे मित्र ज्ञानेश्वर विष्णु के अवतार है। भक्तों को आनन्द देने वाले सोपानदेव ब्रह्मा के अवतार हैं। दासी जनाबाई मुक्ताबाई के चरण छूती है जो आदिमाया का अवतार हैं।

उपर्युक्त अवतरणों से यह दिखायी देता है कि महाराष्ट्र की श्रद्धालु जनता इन्हें ईश्वर का अवतार ही मानती थी।

स्वयं सन्त ज्ञानेश्वर जी ने 'योगी पुरुष कहाँ जन्म लेता है' के बारे में यह लिखा है—

"पाठी जन्मे संसारीं। परी सकळ धर्मांच्या आगरीं।
लांभा उगवे आगरीं। त्रिभवश्रियेच्चा॥
जयातें नीतिपंथे चालिजे। सत्यधूत बोलिजे।
देखावें तें देखिजे। शास्त्रदृष्टि॥
ऐसी निजपुण्याचिया जोडी।
वादिन्नलीं सर्व सुखाची कुळवाडी।
तेथं जन्मे तो सुखाडी। योगच्युत॥"

अर्थात् योगी पुरुष ऐसे स्थान पर जन्म लेता है जो सब धर्मों का आगार है। जहाँ धर्मों की बस्ती है, ऐसे ही स्थान पर चावल का यह पौधा अंकुरित होता है। नीति-मार्ग को अपनाने वाले घराने में, जहाँ सत्य का पालन होता है और जो सारे संसार को अच्छी दृष्टि से देखता है; ऐसे कुल में ही, जहाँ पुण्य की कमाई पर सुख का व्यापार किया गया हो, योगीपुरुष जन्म लेता है।

सन्त ज्ञानेश्वर जी ने ठीक ही कहा है। आलदी तीर्थस्थान था। भगवद्भक्ति की श्रेष्ठ परम्परा उनके घराने में चली आ रही थी और उपर्युक्त कथन के अनुसार उनका घराना योगी-पुरुष को जन्म देने के योग्य ही था। इस घराने में पुण्य का संचय इतना हो चुका था कि एक नहीं चार सन्तों ने एक साथ जन्म लेकर अपने घराने को अमर किया।

सिद्धबेट के एकान्त में फलती-फूलती संन्यासी की गृहस्थी को आलंदी के कर्मकाण्डी ब्राह्मण फूटी आँखों भी देख नहीं पाते थे। विठ्ठलपन्त, उनकी पत्नी और उनके अनजान बच्चों को सब प्रकार से सताने का, पीड़ा देने का कर्मकाण्डी धर्म-मार्तंडों का और उनके संकेतों पर चलने वाली तत्कालीन जनता का उद्योग अबाधित चलता रहा। तत्कालीन समाज पर कर्मकाण्डी ब्राह्मणों का प्रभुत्व छाया हुआ था। समाज के किसी भी स्तर के मनुष्य में उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने की सामर्थ्य नहीं थी। कुम्हार, नाई, चमार आदि जातियों के लोगों ने भी ब्राह्मणों के उकसाने के कारण सिद्धबेट निवासी संन्यासी परिवार को सताने में कसर नहीं रखी! रसोई के लिए कुम्हारों से उन्हें मिट्टी के बर्तन तक नहीं मिलते थे।

गाँव में जब ये अबोध बालक निवृत्ति और ज्ञानेश्वर भिक्षा

माँगने जाते तो उन्हें पग-पग पर अपमानित किया जाता था। कोई बच्चा आकर इनका भिक्षा पात्र गिरा देता और उस दिन खाली हाथ इन्हें घर लौटना पड़ता। कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के लिए इनका स्पर्श तो दूर की बात थी, इनकी छाँह भी पड़ जाती तो उनके लिए शोर मचा कर सारे गाँव को इकट्ठा कर लेना सहज था !

लेकिन विठ्ठलपन्त ने अपनी शाँत वृत्ति नहीं छोड़ी। अपने बच्चों को वे इन पीड़ाओं को सहन करने के लिए तैयार करते रहे। परिणाम यही हुआ कि बचपन से ही इनके बालक बड़े सहिष्णु बन गए थे।

सन्त ज्ञानेश्वर जी ने "ज्ञानेश्वरी" में लिखा है—

"जो सर्व भूतांचे ठाईं। द्वेषातें नेणेचि कहीं।
आपपरु नाहीं। चैतन्या जैसा॥
नाजरी इक्षुदण्डु। पाळी तया गोडु॥
गाळी तया कडु। नोहेचि कां जैसा॥
जो खांडावया घावो घाली। कां लावणी जयानें केली।
दोघां एकचि सांवली। वृक्ष दे जैसा॥
गाईची तृषा हरूं। व्याघ्रा विष होवोनि मारूं॥
ऐसे नेणेचि कां करूं। तोय जैसें॥"

अर्थात् चैतन्य के लिए सभी प्राणिमात्र समान होते हैं। गन्ने को जो पानी पिलाता है, उसे वह मीठा लगता है। जो रस निकालने के लिए उसे चरक में डालता है गन्ना उसे भी कड़ुवा नहीं लगता। वृक्ष भी अपने नीचे बैठने वालों को समान रूप से छाँह देता है। लगाने वाले या अपने पर कुल्हाड़ी चलाने वाले—दोनों को ही वह समान मानता है।

गाय की प्यास बुझाने वाला पानी बाघ के लिए विष थोड़े ही बन जाता है ! वह तो सबकी प्यास बुझाना ही जानता है।

बहिष्कार की जो भयानक आग चारों ओर भड़क उठी थी उसे शाँतिपूर्वक सहन कर चारों बालक अपने पिता से शिक्षा पा रहे थे। महाभारत, गीता, रामायण आदि धर्मग्रन्थों को अपने पिता की छत्रछाया में अध्ययन कर रहे थे। इन बालकों की तपश्चर्या बचपन से ही प्रारम्भ हो चुकी थी।

विठ्ठलपन्त ने अपने ऊपर बरसने वाली अपमान और तिरस्कार की आग को सहन किया। परन्तु जब अपने सुकुमार बालकों पर भी वह आग बरसती हुई उन्होंने देखी तो वे अपने बच्चों को लेकर तीर्थयात्रा करने का विचार करने लगे।

तीर्थयात्रा

एक दिन अपनी पत्नी और चारों बच्चों को लेकर विठ्ठलपन्त तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। (शके १२०५ ई. स. १२८३) उस समय सबसे बड़े पुत्र निवृत्ति की आयु १०-१५ से अधिक नहीं थी।

तीर्थयात्रा के कारण वे सब त्र्यंबकेश्वर जा पहुँचे। त्र्यंबकेश्वर के निकट ही ब्रह्मगिरि है। गोदावरी का उद्‌गम-स्थल होने के कारण ब्रह्मगिरि को पवित्र माना जाता है। विठ्ठलपन्त ने ब्रह्मगिरि की परिक्रमा करने की ठानी और अपने परिवार सहित वे परिक्रमा के लिए चल पड़े। इस परिक्रमा के समय सन्त ज्ञानेश्वर जी के जीवन को प्रभावित करने वाली एक घटना घटी।

ब्रह्मगिरि के आसपास घना जंगल था। जंगल में हिंसक

पशु रहते थे। परिक्रमा का मार्ग घने जंगल में से था। विठ्ठलपन्त जब इस मार्ग से गुजर रहे थे तो एक बाघ निकल पड़ा। उसे देखते ही सारा परिवार बिखर गया। थोड़ी देर बाद सब फिर एकत्र हुए, लेकिन निवृत्ति नहीं दिखायी दिये।

काफी ढूँढने पर भी जब निवृत्ति का पता न चला तब विठ्ठलपन्त अन्य बच्चों को लेकर चले गये। वे यह समझ कर कि निवृत्ति को बाघ ने खा लिया होगा, दुःखी हो गये।

तथ्य यह था कि सामने बाघ देखकर निवृत्ति ने दौड़कर सामने दिखायी पड़ी एक गुफा में प्रवेश कर अपनी रक्षा की थी।

वह गुरु गहिनीनाथ जी की गुफा थी। वे वहाँ तपस्या कर रहे थे। उन्होंने निवृत्ति की परीक्षा ली और जब उनका विश्वास हो गया कि वह एक बुद्धिमान् बालक है तो उन्होंने उसे अपने सम्प्रदाय की दीक्षा दे दी। निवृत्ति ने उनसे शाँकरी विद्या-अद्वयानन्द वैभव का उपदेश लिया था। निवृत्ति ने वहाँ गुरुपरम्परा के आदिनाथ से लेकर सभी सत्पुरुषों का दर्शन किया था। उनके साथ उसने प्रसाद भी ग्रहण किया था। गहिनीनाथ ने निवृत्ति को आज्ञा दी कि उसे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह ज्ञान निवृत्ति अपने भाईयों को भी दे। ज्ञानदेव जब काशीयात्रा को जाएँगे तब वहाँ उनसे हमारी भेंट होगी, यह भविष्यवाणी भी गहिनीनाथ जी ने की थी। गहिनीनाथ जी ने ज़ब निवृत्ति को विदा किया तो एक सप्ताह गुज़र चुका था। इस प्रकार पूरा एक सप्ताह गुरु गहिनीनाथ जी की गुफा में बिताने के बाद निवृत्तिनाथ अपने शोकग्रस्त कुटुम्ब में आ मिले।

चार-पाँच वर्ष तीर्थयात्रा बिताने के पश्चात् विठ्ठलपन्त वापस लौटे और आलन्दी में रहने लगे।

निवृत्ति और ज्ञानेश्वर अब काफी बड़े हो चुके थे। उनका यज्ञोपवीत होना अत्यन्त आवश्यक था। वे रात-दिन इसी चिन्ता में रहते थे कि उनके बच्चों का यज्ञोपवीत कैसे होगा।

विठ्ठलपन्त की वर्णाश्रम धर्म पर निष्ठा थी। लेकिन उनके ज्येष्ठ पुत्र निवृत्ति का उससे विरोध था। यज्ञोपवीत वह अनावश्यक मानता था। वह आयु में कम होने पर भी अत्यन्त विचारशील और बुद्धिमान् था। लेकिन विठ्ठलपन्त अपने पुत्र की इस विचारधारा से सहमत नहीं हो सके।

आलन्दी के कर्मकाण्डी ब्राह्मणों की शरण जाने पर वे बच्चों का यज्ञोपवीत करने की अनुमति दे देंगे, ऐसा विठ्ठलपंत को विश्वास था। उन्होंने संन्यास से घबरा कर तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया था। अपने गुरु की आज्ञा मान कर ही वे गृहस्थाश्रम में पुनः प्रविष्ट हुए थे। वे समझते थे कि अपराध उनका था अर्थात् दण्ड उन्हें मिलना चाहिए न कि उनके बच्चों को। वे आशा कर रहे थे कि समाज उनके बच्चों को दण्ड न देकर पुनः अपना लेगा। इसी आशा से एक दिन वे आलन्दी के ब्राह्मणों के समक्ष उपस्थित हुए और अपने बच्चों का यज्ञोपवीत करने की अनुमति माँगने लगे। लेकिन आलन्दी के शास्त्री पण्डितों ने विठ्ठलपन्त की विनती को ठुकरा दिया। इतना ही नहीं, विठ्ठलपन्त को उन्होंने आज्ञा दी कि संन्यासाश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का उन्होंने जो अपराध किया है उसके लिए देहान्त प्रायश्चित लेना आवश्यक है! विठ्ठलपन्त को इस निर्णय से भारी धक्का पहुँचा। वे निराश

होकर वापस लौटे। शास्त्री पण्डितों के इस निर्णय के अनुसार देहान्त प्रायश्चित लेने का निश्चय विठ्ठलपन्त कर चुके थे।

एक रात उन्होंने अपने छोटे बच्चों को निद्रा में ग्रस्त पाया तो वे पत्नी को लेकर चल पड़े। (गौतम बुद्ध अपने पुत्र राहुल को मां के पास सोया हुआ देखकर एक क्षण के लिए देहरी पर रुक गये थे!) वे मोहवश धीरे-धीरे जा रहे थे। हृदय पर पत्थर रखकर ही वे वहाँ से अपने निश्चय के अनुसार चल पड़े थे। इसी घटना से हम जान सकते हैं कि सामाजिक बहिष्कार की दावाग्नि में और उस जंगल में अपने चार अबोध बच्चों को—जिनका इस पृथ्वी पर दूसरा कोई रखवाला न था—छोड़कर जाते समय उस पति-पत्नि पर क्या बीती होगी? उनका हृदय कैसे आक्रोश कर उठा होगा! नहीं! हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

कहा जाता है कि वे दोनों सीधे प्रयाग पहुँचे। वहां जाकर विठ्ठलपन्त ने अपनी देह गंगामाई को अर्पण कर दी। सती रुक्मिणी ने भी तत्काल पति का ही अनुसरण किया।

अनाथ अवस्था

सिद्धबेट पर रहने वाले वे अनाथ बच्चे असाधारण धैर्य से अपना जीवन व्यतीत करने लगे। उनको किसी का भी सहारा नहीं था। सोपान मुक्ता को सम्हालता था और निवृत्ति तथा ज्ञानदेव भिक्षा माँगने के लिए दर-दर भटका करते थे।

निवृत्तिनाथ से ज्ञानदेव ने योग सम्प्रदाय की दीक्षा प्राप्त की। उनकी साधना भी चल रही थी।

इन निराधार और अनाथ बालकों के प्रति गांव वालों में तनिक भी सहानुभूति पैदा नहीं हुई। निराधार देखकर तो

गाँव वाले अधिक सताने लगे ! कम-से-कम कुछ लोगों के लिए यह मनबहलाव का एक खासा साधन ही बन गया !

सन्त ज्ञानेश्वर ने जो चमत्कार दिखाये हैं, उनमें से एक इन्हीं दिनों में हुआ बताया है। एक दिन मुक्ताबाई के मन में पराँठे खाने की इच्छा उत्पन्न हुई। लेकिन घर में तवा नहीं था। कुम्हार के यहाँ से मिट्टी का तवा लाने के लिए ज्ञानेश्वर चल पड़े। रास्ते में विसोबा चाटी नामक एक व्यक्ति मिल गया। विसोबा स्वभाव से दुष्ट था। गाँव पर इस विसोबा की बड़ी धाक थी। जैसे ही इसे पता चला कि ज्ञानेश्वर कुम्हार के यहाँ मिट्टी का तवा लेने ज़ा रहे हैं, वह कुम्हारों की बस्ती में जा पहुँचा और कुम्हारों को उसने सख्त ताकीद कर दी कि वे ज्ञानदेव को तवा न दें। यदि किसी ने दिया तो उसे गाँव से निकाल बाहर कर दिया जायेगा। संन्यासी के बच्चों के मन में परांठे खाने की इच्छा ! कितना बड़ा अपराध था ! परिणाम यह हुआ कि निराश होकर ज्ञानेश्वर को खाली हाथ लौटना पड़ा। लेकिन उन्होंने घर पहुँचते ही मुक्ता को पराँठे तैयार करने को कहा। कहा जाता है कि उन्होंने योगबल से अपनी पीठ इतनी तपायी कि मुक्ताबाई ने उस पर पराँठे सेंक लिए। यह बात विसोबा चाटी छिपकर देख रहा था।

विसोबा ज्ञानेश्वर की उस अलौकिक सामर्थ्य को देख चकित हुआ। जिन्हें सामान्य बच्चे समझकर वह सता रहा था, वे उतने सामान्य नहीं हैं इसकी प्रतीति प्राप्त होते ही वह अत्यन्त लज्जित हुआ। ग्लानि से उसका मन भर गया और उसे अपने किये का बड़ा पश्चाताप हुआ। ज्ञानेश्वर की थाली में से उनका जूठा पराँठा प्रसाद रूप में खाने की उसकी

इच्छा हुई। इस प्रकार वह शुद्ध होना चाहता था। इस विचार से विसोबा चाटी ज्ञानेश्वर की थाली पर टूट पड़ा। उस समय "हटो विसोबा! कौए जैसा क्या करते हो?" [मराठी में—"विसौबा, परते व्हा हें तुम्हीं खेचरासारखें (कावळ्यासारखे) काय करता?"] मराठी में मुक्तावाई ने उस दिन विसोबा को 'खेचर' कहा था इसलिए उस दिन से विसोबा का नाम विसोबा खेचर प्रचलित हो गया।

विसोबा को शरण आया देख ज्ञानदेव ने उसे सही मार्ग बतला दिया। आगे चलकर विसोबा ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। घमण्डी होने के कारण विसोबा की यह गति हो गई थी। ज्ञानेश्वर की शरण जाने पर उसका यह दुर्गुण नष्ट हो हो गया। विसोबा ज्ञानी पुरुष बन गया। उसने साधु-पद प्राप्त कर लिया। ज्ञानेश्वर जो का विसोबा ही पहला शिष्य बना। मुक्ताबाई ने "हटो विसोबा!" कहा था। विसोबा गृहस्थी से ही हट गये। सन्तों के दो शब्द मनुष्य के समस्त जीवन प्रवाह को कैसे फेर देते हैं, इसका यह एक बड़ा प्रभावशाली उदाहरण है।

पिता के चले जाने के बाद भी ज्ञानेश्वर के मन से उपनयन संस्कार करने की बात गयी नहीं थी। निवृत्ति, जो पूर्ण रूप से निवृत्त थे, अपने छोटे भाई से इस बात पर वाद-विवाद करते थे। उपनयन संस्कार की अनुपयुक्तता उसने बतायी थी। सोपानदेव भी निवृत्ति के ही पक्ष में थे।

ज्ञानेश्वर जी की बात और थी। उन्हें शास्त्रों और पंडितों का मान रखना था और इसीलिए वे अपने दोनों भाइयों से सहमत नहीं हो सके। उनका ध्येय व्यापक था। वे समाज-निर्माण की दृष्टि धारण किये हुए थे। धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाना

उनका एकमात्र लक्ष्य था। समाज की नींव को वे अधिक दृढ़ बनाना चाहते थे। जो बुराइयाँ धर्म में घुस आयी थीं उनको हटाना ही उनका लक्ष्य था। बुराइयों से मुक्त होने पर समाज एक ऐसी नींव पर खड़ा रहेगा। जो आने वाले धर्म-चक्रों से अपनी रक्षा कर सकेगा। इसी निष्ठा से वे कार्य कर रहे थे। धर्म-बन्धनों को ठुकराने का उत्तेजन समाज को न मिले इसके प्रति वे सचेत थे। अतएव उपनयन करने के अपने निश्चय पर वे अटल रहे।

विसोबा चाटी की घटना से आलन्दी के ब्राह्मणों की आँखें खुल गई। जब ज्ञानदेव ने इन कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के समक्ष उपस्थित होकर यज्ञोपवीत संस्कार करने की अनुमति मांगी तो ब्राह्मणों ने सभी धर्म ग्रन्थों को देखा। लेकिन वे कोई निर्णय नही कर पाये। अन्त में ब्राह्मणों की सभा में यह निर्णय किया गया कि इन बच्चों को पैठण के धर्मशास्त्र के पण्डितों के पास भेजना ही ठीक होगा। पैठण में उन दिनों धर्म-पीठ स्थापित हो चुका था। आलन्दी के ब्राह्मणों ने एक पत्र देकर इन बालकों को पैठण धर्माधिकारी के पास जाने की सलाह दी। अपने भाइयों को लेकर ज्ञानेश्वर पैठण जा पहुँचे। कहा जाता है कि वहाँ अपने जिस सज्जन के यहां ठहरे थे वहां भी उन्होंने श्राद्ध के समय यजमान के पूर्वजों को प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित कर अपने योग-सामर्थ्य से चमत्कृत किया था। आलन्दी के ब्राह्मणों का पत्र पढ़ कर पैठण के धर्माधिकारी ने पैठण के विद्वान् पण्डितों की सभा बुलाई।

संन्यासी के बच्चे उपनयन करना चाहते है और वे आलंदी आ पहुँचे हैं, यह सारे पैठण के लिए आश्चर्य की बात थी। सभा मे इसी बात पर चर्चा हो रही थी और सब बड़े कौतुहल

से इन चारों बच्चों को निरख रहे थे। पूरे पैठण के लिए यह बड़ी चर्चा का प्रश्न बन गया था।

पैठण में भी वही हुआ जो आलंदी में हुआ था। ग्रन्थ उलटे-पुलटे गये; लेकिन कोई आधार नहीं मिला। प्रगतिशीलता नष्ट होने पर समाज धर्म-ग्रन्थों से चिपटा रहता है। पैठण के विद्वान् पण्डितों ने कह दिया, "संन्यासी के बालकों को उपनयन करने का अधिकार है या नहीं इस सम्बन्ध में ग्रन्थों में कोई आधार नहीं है।" धर्म जब रूढ़ि और परम्परा का गुलाम बन जाता है तभी ऐसी परिस्थिति पैदा होती है और तथाकथित विद्वानों और पण्डितों में भी आगे बढ़ने की हिम्मत नही होती।

पैठण के नागरिक भी सभा में उपस्थित थे। उनमें से कुछ मनचले इन बालकों का उपहास करने लगे! पढरपुर के विठ्ठल-रूक्माई का-सा इनके माता-पिता का नाम विठ्ठल रूक्मिणी होना सबके लिए उपहास का विषय बन गया! बच्चों के नामों पर भी हंसी उड़ाई। एक मनचले ने कहा, 'पैठण के एक भैंसे का भी नाम ज्ञानेश्वर है।' और वह एक भैंसा ले आया!

ज्ञानेश्वर जी ने तत्काल कहा, "आप ठीक ही तो कहते हैं। सबके हृदय में परमेश्वर है। हम दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। एक ही परमात्मा के हम दो भिन्न रूप हैं।" उस व्यक्ति ने कोड़ा लिया और सामने खड़े भैंसे को मारना शुरू किया। भैंसे की पीठ पर कोड़े के व्रण दिखायी देने लगे। आश्चर्य की बात यह थी कि ज्ञानेश्वर जी बहुत दुःखी हो रहे थे, मानो उनकी पीठ पर भी व्रण हो रहे थे और उनमें से

खून बह रहा था। "आत्मा और परमात्मा में अभिन्नता है; सब प्राणिमात्र परमात्मा के अंश हैं" इन तत्वों की शिक्षा देने के लिए ज्ञानेश्वर जी ने व्याकुल होकर यह सिद्ध कर दिखाया कि उस भैंसे में और स्वयं में कोई भेद नहीं है, परन्तु पैठण के ब्राह्मणों का समाधान नहीं हुआ। वे उनकी और परीक्षा लेने पर उतारू हो गये। एक अनाथ और संन्यासी के कम उम्र वाले बालक ने मानो पैठण के ब्राह्मणों को इस चमत्कार द्वारा लज्जित किया था! वे उत्तेजित हो उठे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने ज्ञानेश्वर जी को ललकारा कि यदि तुम में सामर्थ्य हो तो इस भैंसे के मुह से वेदमन्त्र सुनाओ!

ज्ञानेश्वर जी की अलौकिक सामर्थ्य के सम्बन्ध में ब्राह्मणों के मन में अब कोई शंका नहीं रही। उनका घमण्ड चूर-चूर हो गया। वे चारों के समक्ष नम्र भाव से और शरण पाने को इच्छा से झुक गये।

भैंसे के मुँह से वेदोच्चार करवाने की इस चमत्कारपूर्ण घटना के बाद, पैठण के ब्राह्मणों ने ज्ञानेश्वर जी को उपनयन संस्कार करने की अनुमति दी या नहीं यह प्रश्न अब भी विवादास्पद बना है। लेकिन एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि ज्ञानेश्वर और उनके भाई तथा बहन मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारी रहे।

कार्य का आरम्भ

पैठण की इस चमत्कारपूर्ण घटना के पश्चात् ज्ञानेश्वर जी के जीवन में अपूर्व परिवर्तन हो गया। उनके जीवन के महान्

मानते थे। 'ज्ञानेश्वरी' में उनकी यह श्रद्धा स्थान-स्थान पर दिखायी देती है। सोपानदेव और मुक्ताबाई झांज लेकर उनके पीछे खड़े रहा करते थे।

बालयोगी ज्ञानेश्वर की अमृतवाणी सुनकर श्रोता मन्त्र-मुग्ध होकर डोलने लगते थे। अपनी दिव्यवाणी और प्रखर बुद्धिमत्ता से पैठण के जनसाधारण को मोह लेने के बाद सन्त ज्ञानेश्वर पैठण से चल पड़े।

पैठण में वे पर्याप्त समय रहे और उस अवधि में उन्होंने धर्मग्रन्थों का अध्ययन भी किया।

सन्त ज्ञानेश्वर ने जब पैठण से प्रस्थान किया तो उनके साथ भक्त भी बड़ी संख्या में थे। मार्ग में जो गांव पड़ते थे वहां उनका पड़ाव होता था। कथा-कीर्तन और प्रवचन होता था। इस तरह वे प्रवरा नदी के तट पर बसे हुए नेवासे गांव आ पहुँचे।

नेवासे में मोहिनीराज का मन्दिर है। अमृत के कारण जब देव-दानवों में झगड़ा हुआ था तो भगवान् विष्णु ने आदि माया का रूप धारण किया था। आदिमाया के इस रूप को ही मोहिनीराज कहते हैं।

नेवासे में दूसरा मन्दिर था—शिव का। प्रवरा के तट पर स्थित इसी शिवालय में सन्त ज्ञानेश्वर जी ठहरे थे। आज भी इस मन्दिर में एक स्तम्भ बताया जाता है जिसके पास बैठकर सन्त ज्ञानेश्वर जी ने अपने गुरु निवृत्तिनाथ की आज्ञा पाकर अपना विश्व-विख्यात ग्रन्थ "ज्ञानेश्वरी" मराठी भाषा में लिखा था। निवृत्तिनाथ ने कहा था—"भोली-भाली जनता संस्कृत तो जानती नहीं, फिर वह परमार्थ कैसे समझेगी,

तुम्हें गीता पर मराठी भाष्य लिखना चाहिए।" ग्रन्थराज "ज्ञानेश्वरी" का जन्मस्थान होने के कारण इस स्थल को अत्यन्त पवित्र माना जाता है।

उस समय मराठी की स्थिति क्या थी, यह समझे बिना सन्त ज्ञानेश्वर जी के कार्य का महत्त्व समझ में नहीं आ सकता। निवृत्तिनाथ और सन्त ज्ञानेश्वर जी ने संस्कृत माध्यम न अपना कर अपने विचार जनसाधारण की भाषा में लिखने का निश्चय क्यों किया, यह पूरी तरह से समझनेके लिए मराठी भाषा के इतिहास का अवलोकन करना ही ठीक होगा।

सन्त ज्ञानेश्वर के काल में मराठी भाषा काफी समृद्ध हो चुकी थी। सन्त ज्ञानेश्वर के पहले से ही मराठी साहित्य की भाषा हो चुकी थी। शके ११९० से ९४ तक हरपालदेव या श्रीचक्रधर नामक एक सन्त "महानुभाव पंथ" का प्रचार करते रहे। वे ही इस पन्थ के संस्थापक भी थे। उन्होंने सर्व-साधारण में अपने मत को फैलाने के लिए जिस भाषा का सहारा लिया था वह थी मराठी। 'महानुभाव पन्थ' के समर्थकों ने मराठी मे पर्याप्त साहित्य का निर्माण किया है। परन्तु उन्होंने अपनी भाषा के लिए गुप्त लिपि का उपयोग किया था। 'महानुभाव पन्थ' के एक सन्त मुकुन्दराज सन्त ज्ञानेश्वर से पहले हो चुके हैं। उनके 'विवेक सिन्धु' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि अध्यात्म जैसे शास्त्रीय विषय के लिए भी उन्होंने मराठी भाषा का ही उपयोग किया।

परन्तु 'महानुभाव पन्थ' का यह कार्य अपवाद स्वरूप ही था। वैसे तो साहित्य की भाषा संस्कृत और व्यापार की भाषा मराठी थी। धार्मिक साहित्य संस्कृत में ही लिखा जा रहा था। राजाश्रय भी संस्कृत भाषा को ही प्राप्त था। यदि

मराठी भाषा में कोई धर्मविषयक साहित्य लिखने का प्रयास करता तो उसकी सर्वत्र कटु आलोचना हुआ करती थी। उसका तिरस्कार किया जाता था। यह संघर्ष छत्रपति शिवाजी महाराज के काल तक चलता रहा। सन्त एकनाथ और उनके पुत्र हरिपण्डित में भाषा के प्रश्न पर जो विवाद हुआ, वह इतिहास प्रसिद्ध है। सन्त ज्ञानेश्वर के बाद जो भी सन्त आए उन्होंने बड़ी हिम्मत से मराठी भाषा का पक्ष लेकर उसे सजाया है। एकनाथ भी मराठी के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने तो मराठी के विरोधियों को यही प्रश्न किया था, 'संस्कृत यदि देव वाणी है तो मराठी क्या चोरों की भाषा है ?'

सन्त ज्ञानेश्वर जी का जन्म लोकजागृति के लिए हुआ था। उन्होंने देखा कि जनसाधारण और धर्म के बीच संस्कृत के कारण समुचित समन्वय नहीं हो पा रहा है। धर्म के व्यवहार की भाषा तो थी संस्कृत, लेकिन ब्राह्मणों के अतिरिक्त देववाणी सुनने या बोलने का अधिकार दूसरों को कहाँ था ! कोई अब्राह्मण देववाणी बोलने का साहस करता तो दण्ड का भागीदार बन जाता था ! भाषा के इस प्रतिबन्ध के कारण जनसाधारण के मध्य धर्म की जड़ें टूटती जा रही थीं, यह तथ्य क्राँतिकारी सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी दिव्य-दृष्टि से जान लिया था। वे यदि इस मर्म को न पहचानते तो उनकी मृत्यु के पश्चात् ही इस्लाम का जो आक्रमण हुआ, उसमें हिन्दू धर्म नष्ट हो जाता। धर्म को नया प्राण अर्पण करने का अर्थ एक ही था कि उसे जनसाधारण तक पहुँचाना। धर्म का वाहन भाषा होती है और जनसाधारण के हृदय में धर्म को स्थापित करने की शक्ति उन दिनों संस्कृत में नहीं, अपि तु मराठी में थी। जनसाधारण तो सदियों से संस्कृत को भूल चुका था।

यदि सन्त ज्ञानेश्वर भी धर्म और जन-जागृति के लिए संस्कृत का ही उपयोग करते तो उसका कोई उपयोग न होता।

सन्त ज्ञानेश्वर धर्म को धनहीन, सत्ताहीन वैश्य और शूद्र तथा स्त्रियों तक पहुँचाना चाहते थे। गीता, महाभारत, रामायण, स्मृति, पुराण आदि संस्कृत भाषा के कारागृह में पड़े थे। उस कारागृह की चाबी थी तत्कालीन कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के पास। मानो मोक्ष या धर्म के वे ही अधिकारी थे ! परमार्थ कौनसी चिड़िया का नाम है यह भोली-भाली जनता जानती तक न थी ! इसीलिए सन्त ज्ञानेश्वर ने प्राचीन धर्म-ग्रन्थों को जनसाधारण तक पहुंचाने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए जनसाधारण की मराठी भाषा में 'गीता' जैसे ग्रन्थराज पर "ज्ञानेश्वरी" भाष्य लिख कर विद्रोह किया ! मोक्ष की यह गीतारूपी चाबी उन्होंने सर्वसाधारण के हाथ में सौंप कर दलित, पीड़ित, उपेक्षित जनता को मानो मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बतला दिया। मराठी भाषा के लिए उन्होंने कहा—

"माझा महाटाचि बोल कवतिकें।
परी अमृतातेंही पैजा जिंके।
ऐसी अक्षरें रसिकें मेळवीन॥"

अर्थात् मेरी मराठी भाषा असंस्कृत क्यों न हो, परन्तु मैं ऐसी रसमय रचना इस भाषा में करूँगा कि वह अमृत से भी होड़ ले सकेगी।

सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने बोल सुललित भाषा में लिखे उनके पहले मराठी भाषा में ग्रन्थ तो अवश्य लिखे गए थे किन्तु मराठी में माधुर्य और ओज निर्माण करने का समस्त श्रेय

सन्त ज्ञानेश्वर को ही है। अपनी अलौकिक प्रतिभा से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि साहित्यिक गुणों में मराठी संस्कृत से ज़रा भी कम नही है।

सन्त ज्ञानेश्वर ने कर्मयोग पर जोर दिया। गीता में वर्णित कर्मयोग का उपदेश तत्कालीन जनता को कौनसे उद्देश्यों को दृष्टिपात रखकर दिया था, यह समझने के लिए भारत की तत्कालीन स्थिति की ओर भी दृष्टिक्षेप करना आवश्यक है।

ई. स. ७१२ से इस्लामी आक्रमण शुरू हो गये थे। सिंध पर होने वाले आक्रमण बढ़ते गये और धीरे-धीरे भारत के उत्तरी प्रांत एक के बाद एक धूल में मिलते गये। अन्त में ई. स. ११९२ में उत्तर भारत में मुहम्मद गौरी ने इसलामी राज्य की स्थापना कर दी।

इस्लामी आक्रमणों से हिंदू धर्म को आघात पहुंचा था। इस्लामी राज्य की स्थापना के बाद तो उसके सर्वनाश के ही दिन आ गये। शिक्षा और संस्कृति के उच्च केन्द्रों का नाश हो गया। प्राचीन मन्दिरों को ध्वस्त किया गया। शस्त्र के बल पर या लोभ दिखा कर हिंदुओं को मुसलमान बनाया जाने लगा। धर्माचरण करने की भी स्वतन्त्रता नहीं रही समाज में गहरी निराशा फैल गयी और मन्दिरों को नष्ट होते देख लोगों की श्रद्धा को भी भारी धक्का पहुँचा। समाज में धर्म के प्रति घोर उदासीनता फैल गयी।

उस समय दक्षिण भारत की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। दक्षिण भारत में ई. स. ११९४ तक मुसलमानों ने प्रवेश नहीं किया था। उस समय दक्षिण भारत में यादव वंश के अन्तिम

राजा रामदेव का शासन चल रहा था। इनकी राजधानी देवगिरि में थी।

यादव नरेश रामदेव और सन्त ज्ञानेश्वर समकालीन थे। यादव शासक वैदिक संस्कृति, विद्या और कलाओं के आश्रय-दाता थे। यज्ञप्रधान संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का वे प्रयत्न कर रहे थे। कृष्णदेव यादव (ई. स. १२४७ से १२६०) के काल में कई यज्ञ हुए थे। यादवों के शासनकाल में ज्योतिष, गणित आदि विषयों पर कई ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु कर्मकांड का प्रसार करने वाले ग्रन्थ ही अधिक लिखे जा रहे थे। धीरे-धीरे चातुर्वर्ण्य-प्रधान समाज-व्यवस्था और विशिष्ट आचार-मार्गों को ही उत्तेजन मिलने लगा। इन ग्रन्थों की भाषा संस्कृत ही थी। अर्थात् यह धार्मिक साहित्य उच्च-वर्णियों या ब्राह्मणों के लिए ही लिखा जा रहा था। जन-साधारण का इससे कोई सम्बन्ध नहीं था। ई. स. १०३० में अलबेरुनी द्वारा लिखे गये वृत्तान्त से पता चलता है कि समाज की उस समय क्या स्थिति थी। ब्राह्मण वर्ग सबसे श्रेष्ठ माना जाता था। उसके बाद क्षत्रिय और वैश्यों को स्थान प्राप्त था। शूद्रों की चौथी श्रेणी थी, जिससे आगे बढ़कर अंत्यज और अंत्यजों से भी कई हीन समाज बन गये थे। विशेषतः, ऐसे लोगों को जो कई प्रकार की कारीगरी में लगे हुए थे, अंत्यजों की श्रेणी में गिना जाने लगा था। स्त्रियों की स्वतन्त्रता हरण की जा चुकी थी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वर्णाश्रम धर्म के नाम पर समाज छोटे-छोटे भागों में बटता चला गया था। सामने एक विघटित समाज दिखायी दे रहा था। ऐसी अवस्था में तत्कालीन ब्राह्मणों ने आचार-प्रधान और कर्मकाण्ड पर

आधारित समाज-व्यवस्था को बढावा दिया। रामदेवराव यादव के प्रधानमंत्री हेमाद्रि ने, जो एक प्रकाण्ड पण्डित माने जाते थे, 'चर्तुवर्ग चितामणि' नामक एक ग्रन्थ उन दिनों लिखा था। उससे भली-भान्ति पता चलता है कि तत्कालीन धार्मिक नेताओं की दृष्टि कैसी थी। इस ग्रन्थ में प्रतिदिन और प्रत्येक तिथि को जिन व्रतों का पालन करना चाहिये, उनकी एक लम्बी तालिका भी दी गयी है! व्रतों की संख्या २००० है! मज़े की बात तो यह है कि देवताओं के नैवेद्य और उनके नाम पर ब्राह्मण-भोजों में कितने ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए—यह भी श्रुति, स्मृति, पुराणों के आधार पर दिया गया है!

समाज का विघटन करने के प्रयत्न यहीं पर रुके नहीं। दूसरी कई शक्तियां इस दिशा में तेज़ी से बढ़ रही थीं। भिन्न-भिन्न धार्मिक पंथ समाज को भिन्न-भिन्न पंथों में बांटने पर तुले हुए थे।

बौद्ध धर्म अपने अन्तिम दिन गिन रहा था। महाराष्ट्र में जैन धर्म पर्याप्त फैल चुका था। हिन्दुओं में शैव और वैष्णव आदि कई मुख्य पन्थ थे। वैष्णव पन्थों की ही एक शाखा को 'भागवत पन्थ' कहा जाता था। महाराष्ट्र में इसी पन्थ को 'वारकरी सम्प्रदाय' कहा जाता है। वीर शैव और वीर वैष्णव पन्थों का संघर्ष उग्र रूप धारण कर चुका था। वैष्णवों में रामोपासक और कृष्णोपासक पन्थ अलग थे। शाक्त और देवी के उपासकों के पन्थ अलग थे ही। गाणपत्य, रुद्र, आदि अनेक सम्प्रदाय थे। इस प्रकार पन्थ और उनके कई भेदों में समाज बंट चुका था।

सर्वसाधारण जनता पर पुराणों का प्रभाव था। परन्तु

राजाश्रय स्मृतियों पर आधारित चातुर्वंण्य व्यवस्था का पक्ष-पाती होने के कारण पुराणों के समर्थक अपना सिर नहीं उठा सके। महाराष्ट्र में 'महानुभाव पन्थ' का प्रभाव ज्ञानेश्वर के पूर्व काल में दिखायी देता है। 'महानुभाव पन्थ' के अनुयायियों ने मराठी भाषा को सर्वप्रथम साहित्य की भाषा बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। परन्तु भाषा के लिए उन्होंने गुप्त लिपि अपनायी थी। इस कारण उनका साहित्य पढ़ना कठिन हो गया था। नाथपन्थ का भी प्रचार था। स्वयं सन्त ज्ञानेश्वर जी ने इसी पन्थ की दीक्षा ली थी।

अपने समय में सन्त ज्ञानेश्वर ने जो समाज देखा वह उपर्युक्त वर्णन के अनुसार था। अर्थात् वे भली प्रकार जान गये थे कि यह समाज एक खोखली नींव पर खड़ा है जो न जाने कब ढह जाएगी ! नाथपन्थी होने के कारण उत्तर भारत में क्या हो रहा था इसका भी उन्हें अच्छा ज्ञान होने की सम्भावना है। भारत के चारों कोनों में और देश में सर्वत्र तीर्थस्थान फैले होने के कारण पूरे देश में तीर्थ-यात्रियों का आगमन रहता था। उनसे भी उत्तर में धार्मिक अवस्था का पता लगना असम्भव न था। सन्त ज्ञानेश्वर भविष्य द्रष्टा थे। दुर्भाग्य की बात यह है कि विलास वैभव में डूबे हुए देवगिरि के यादव शासक और कर्मकाण्डी ब्राह्मण अधिकारी भविष्य के लिए सर्वथा निश्चिन्त रहे। ई. स. १२९० में "ज्ञानेश्वरी" पूर्ण हुई और केवल चार वर्ष बाद ही मुसलमानों का महाराष्ट्र पर आक्रमण हुआ। यादवों के राज्य को ई. स. १२९४ में अल्लाउद्दीन खिल्जी ने जीत कर अपने आधीन कर लिया था। मलिक काफूर ने जब १३०८ ई० में दक्षिण भारत पर आक्रमण किया तो इस राज्य का सफाया ही कर दिया था।

सन्त ज्ञानेश्वर नये धर्म या पन्थ की स्थापना नहीं करना चाहते थे। वे तो एक सुदृढ़ नींव पर खड़े हुए संघटित समाज का निर्माण करना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने गीता का आधार लिया। ईश्वर, धर्म और कर्मयोग में उन्होंने सामंजस्य-पूर्ण संगति स्थापित कर अपने विचारों और उपदेशों का गीताभाष्य में ग्रन्थन कर दिया।

ज्ञानेश्वरी

"ज्ञानेश्वरी" में उन्होंने गीता के निष्काम कर्मयोग पर ही बल दिया है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रियों को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। 'अपने कर्तव्यों का पालन करते समय कर्म-फल की आसक्ति उत्पन्न न होने पाये तथा प्रत्येक व्यक्ति निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करे' इसी कर्मयोग की शिक्षा सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता के आधार पर तत्कालीन भोली-भाली जनता को दी। उन्होंने छोटे-मोटे देवी-देवताओं का महत्त्व कम करके ईश्वर के सम्बन्ध में सच्चे ज्ञान का लोगों में प्रसार किया।

"ज्ञानेश्वरी" ऐसा विशाल दर्पण है जिसमें ज्ञानेश्वर कालीन समाज का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देता है। विद्वानों का मत है कि "ज्ञानेश्वरी" ज्ञानेश्वर कालीन महाराष्ट्र का सुलभ विश्वकोष है।

"ज्ञानेश्वरी" के नाम के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्वयं सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने ग्रन्थ को यह नाम नहीं दिया था। विद्वानों में इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद भी है। गीता पर मराठी में लिखी गयी यह आलोचना शुरू में 'भावार्थ दीपिका' नाम से प्रसिद्ध थी। सन्त ज्ञानेश्वर के भक्तों

ने इस ग्रन्थ को "ज्ञानेश्वरी" नाम से पुकारना शुरू किया। 'ज्ञानेश्वरी' लिखी जाने के तीन सौ वर्षों बाद सुप्रसिद्ध सन्त एकनाथ जी ने सशोधित प्रति में इस ग्रन्थ का 'ज्ञानेश्वरी' नाम से उल्लेख किया है। महत्त्वपूर्ण यह है कि 'ज्ञानेश्वरी' की आठ हजार आठ सौ बयाँनवे ओवीयों में कहीं भी कवि ने इस नाम का उपयोग नहीं किया है। कवि द्वारा ग्रन्थ का नाम न दिया जाने के कारण सन्त ज्ञानेश्वर के बाद के सन्तों में 'ज्ञानेश्वर', 'ज्ञानदेवी' और 'भावार्थदीपिका' इन तीनों नामों से ही यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हो गया था।

'ज्ञानेश्वरी' लिखने का काम सच्चिदानन्द बाबा ने, सन्त ज्ञानेश्वर के शिष्य थे, किया था। इनके सम्बन्ध में एक दन्तकथा प्रचलित है। सच्चिदानन्द बाबा ब्राह्मण थे। जब इनकी मृत्यु हुई तो इनकी प्रेतयात्रा उस शिवालय के सामने से निकली जहाँ सन्त ज्ञानेश्वर ठहरे थे। सच्चिदानन्द बाबा की स्त्री भी सती होने के लिए साथ जा रही थी। उसने जाते-जाते सन्त ज्ञानेश्वर को देखा तो झुककर उन्हें वन्दन किया। सन्त ज्ञानेश्वर के मुख से अकस्मात् सौभाग्य का आशीर्वाद निकल गया। उन्हें अपने इस आशीर्वाद के कारण योग-बल से सच्चिदानन्द बाबा को जीवित करना पड़ा था। उसी दिन से सच्चिदानन्द बाबा सन्त ज्ञानेश्वर के एकनिष्ठ शिष्य बन गये।

सच्चिदानन्द बाबा के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियों में उल्लेख आता है—

"शके बाराशतें बारोत्तरें। तैं टीका केली ज्ञानेश्वरें।
सच्चिदानन्द बाबा आदरें। लेखक जाला॥"

उपर्युक्त पंक्तियों से 'ज्ञानेश्वरी' का काल निश्चित हो

जाता है । शके १२१२ (ई. स. १२९०) में यह ग्रन्थ लिखा गया।

'ज्ञानेश्वरी' के बाद सन्त ज्ञानेश्वर ने नेवासे में ही अपना दूसरा ग्रन्थ पूर्ण किया। 'ज्ञानेश्वरी' उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है यद्यपि यह उनकी रचनाओं में सबसे श्रेष्ठ रचना है। निवृत्तिनाथ जी की इच्छा थी कि वे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखें। कहा जाता है कि जब निवृत्तिनाथ जी ने आज्ञा दी तो सन्त ज्ञानेश्वर ने उनकी इच्छानुसार ही स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का विचार किया। और उसका नाम 'अनुभवामृत' रखा। सन्त ज्ञानेश्वर के इस ग्रन्थ का नाम 'अनुभवामृत' रखने पर भी वह 'अमृतानुभव' नाम से प्रसिद्ध हो गया।

सन्त ज्ञानेश्वर नाथपंथ के अनुयायी थे और अद्वैत मत का प्रतिपादन करने के लिए ही उन्होंने 'अनुभवामृत' की रचना की थी। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय से लेकर अन्तिम अध्याय तक सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने अद्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। नाथपन्थ के दर्शन की छाप इस ग्रन्थ पर पड़ना स्वाभाविक ही है। इस ग्रन्थ में कुल दस प्रकरण हैं। और ओवीयों की संख्या ८०३ हैं। "अनुभवामृत" पूरा कर लेने पर सन्त ज्ञानेश्वर नेवासा छोड़कर आलदी की ओर चल पड़े।

"ज्ञानेश्वरी" पूर्ण होने के चार वर्ष बाद ही नेवासे पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। जिस शिवालय में बैठकर सन्त ज्ञानेश्वर ने "ज्ञानेश्वरी" लिखी थी उसे नष्ट-भ्रष्ट करके मुसलमानों ने उसके स्थान पर एक मसजिद खड़ी कर दी। हिन्दुओं और मुसलमानों में इस मसजिद के सम्बन्ध में पिछले दिनों तक विवाद चल रहा था। अब न्यायालय द्वारा यह

स्थान हिन्दुओं को सौंप दिया गया है। उक्त शिवालय में विशाल स्मारक बनाने की योजना बन चुकी है।

शिवालय का रूपांतर मसजिद में हुआ, इसे कालांतर से लोग भूल गये और सन्त ज्ञानेश्वर ने मसजिद में ही 'ज्ञानेश्वरी' लिखी थी यह कथन चल पड़ा। अपने योग-सामर्थ्य से उन्होंने एक फकीर को प्रभावित कर अपना शिष्य बना लिया था, ऐसी एक दन्तकथा लोगों में फैल गयी थी।

चांगदेव पासष्टी

सन्त ज्ञानेश्वर के चरित्र में चांगदेव को भुलाया नहीं जा सकता। तापी तट पर पुलतांबे नामक एक गाँव है। इस गाँव में चांगदेव नामक एक योगी था। चांगदेव वर्ष भर समाधिस्थ रहा करता था। कहा जाता है कि इस गाँव में ऐसी प्रथा चली आ रही थी कि शवों का दाह करने के बजाय उन्हें चांगदेव की समाधि के सामने डाल दिया जाता था। चांगदेव जब समाधि में से उठता था तो उन शवों को अपने योग सामर्थ्य से पुनर्जीवित करता था। चांगदेव सब विद्याओं में प्रवीण और बड़ा विद्वान् था। लेकिन था बड़ा घमण्डी।

लोगों के मुँह से चांगदेव ने जब सन्त ज्ञानेश्वर की ख्याति सुनी तो उसे बड़ा धक्का पहुँचा। तलवे की उष्णता मस्तक पर जा पहुँची। सन्त ज्ञानेश्वर के कारण मेरा प्रभाव लोगों पर न रहेगा, इस कल्पना से वह चिन्तित हो उठा। उसने सन्त ज्ञानेश्वर को पत्र लिखने का निश्चय कर लिया। परन्तु उसके सामने एक बड़ी विकट समस्या पैदा हो गयी। पत्र का आरम्भ कैसे करे? सम्बोधन क्या करे? सन्त ज्ञानेश्वर चांगदेव के समक्ष बालक के ही समान थे! पर वह जानता

ा कि बालक होने पर भी सन्त ज्ञानेश्वर का अधिकार बड़ा
। अर्थात् चांगदेव ने उन्हें "चिरंजीव" लिखना ठीक न
समझा। सन्त ज्ञानेश्वर का अधिकार बड़ा मानकर उन्हें
"तीर्थरूप" लिखना भी उसे जंचा नहीं; क्योंकि वे आयु में
उससे बहुत छोटे थे! योगिराज चांगदेव निर्णय नहीं कर
पाये कि क्या लिखा जाए? सम्बोधन करने की समस्या ही
हल नहीं हुई तो पत्र कैसे लिखा जाता?

पत्र के बजाय कोरा कागज़ ही भेजना चांगदेव ने उचित
समझा और इसीलिए अपने शिष्य के साथ उसने सन्त ज्ञानेश्वर
को कोरा कागज़ ही भेज दिया!

मुक्ताबाई ने जब वह कोरा कागज़ देखा तो उसके मुँह से
निकल गया, "दीर्घायु होने पर भी यह योगी ज्ञान के सम्बन्ध
में कोरा ही दिखायी देता है।"

योगी चांगदेव की आंखें खोलने के लिए सन्त ज्ञानेश्वर ने
उसे पत्र लिखने का निश्चय किया। उसमें उन्होंने जैसे वेदान्त
का अर्क ही निचोड़ दिया। ६५ ओवियों में लिखे हुए इस
पद्यमय पत्र को "चांगदेव पासष्टी!" कहा जाता है, परन्तु
योगी चांगदेव का नशा न उतरा। उतरता कैसे? उसे तो
पत्र का अर्थ ही नहीं लगा। अपने योग-सामर्थ्य के कारण
उसकी आंखों पर अहंकार का पटल पड़ा हुआ था। उसने पत्र
पाते ही सन्त ज्ञानेश्वर से प्रत्यक्ष भेंट करने का निश्चय
कर लिया।

योगीराज चांगदेव बड़े ठाठ-बाठ और दल-बल सहित
सन्त ज्ञानेश्वर को मिलने के लिए चल पड़े। उनकी उक्त
सवारी का वर्णन मिलता है। कहा जाता है कि योगी चांगदेव

एक शेर पर सवार हुए थे और हाथ में सांप का चाबुक लिया था। स्वयं चांगदेव ने बड़ा उग्र रूप धारण किया था। साथ में उनका जयघोष करता हुआ १४०० शिष्यों का दल भी था। योगी चांगदेव के आगमन के समय सन्त ज्ञानेश्वर अपने भाई बहिनों के साथ एक टूटी दीवार पर बैठे थे। वहीं पर उन्हें योगी चांगदेव के आने का समाचार मिला। अतिथि के स्वागत के लिए आगे जाना आवश्यक था। परन्तु आने वाले अतिथि को सन्त ज्ञानेश्वर भली-भान्ति जानते थे। अतः किंवदन्ती है कि मन में कुछ सोचने के पश्चात् उन्होंने उस दीवार को आगे बढ़ने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञा पाते ही वह निर्जीव दीवार चल पड़ी। योगी चांगदेव ने विस्फारित नेत्रों से जब यह देखा कि सन्त ज्ञानेश्वर एक दीवार पर बैठे हैं और वह निर्जीव दीवार चली आ रही है तो उसके घमण्ड का नशा उतर गया। अहंकार विनष्ट हुआ और योगी चांगदेव ने सन्त ज्ञानेश्वर के पाँव पकड़ लिये। योगी चांगदेव जान गया कि जीवित प्राणियों को वशीभूत करने की ही उसमें सामर्थ्य है। अपनी यौगिक शक्ति की ऊँचाई उसे मालूम हो गयी। उसने मान लिया कि अपने योग-सामर्थ्य से निर्जीव दीवार पर भी जो अधिकार चलाते हैं वह सन्त ज्ञानेश्वर उससे निश्चय ही श्रेष्ठ हैं। सन्त ज्ञानेश्वर के आदेशानुसार चांगदेव ने मुक्ताबाई से गुरूपदेश लिया। वह एक बालिका का शिष्य बन गया। कोरे योगबल से ज्ञान श्रेष्ठ है, यही इस घटना से सिद्ध होता है। चांगदेव योगी था। सब विद्याओं में प्रवीण था परन्तु उसे ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ था। मुक्ताबाई निवृत्तिदेव, सन्त ज्ञानेश्वर और सोपानदेव से भी आयु में छोटी थी परन्तु सन्त ज्ञानेश्वर ने उसी को आयु में कई गुणा बड़े योगी चांगदेव को उपदेश करने को कहकर ज्ञान की महत्ता प्रस्थापित की!

पंढरपुर यात्रा

कुछ दिनों के बाद सन्त ज्ञानेश्वर ने पंढरपुर जाने का निश्चय किया। उनके पहले से ही महाराष्ट्र के पढरपुर में देवता 'विठ्ठल-रुक्मिणी' की उपासना चालू थी। यह उपासना काफी पुरानी थी। सन्त ज्ञानेश्वर के काल में पंढरपुर महाराष्ट्र के भागवत-धर्मी सन्तों का मुख्य तीर्थस्थान बन गया था। इसी सम्प्रदाय को महाराष्ट्र में "वारकरी संप्रदाय" नाम प्राप्त है। प्रति वर्ष आषाढ़ी कार्तिक एकादशी को पंढरपुर के विठोबा के दर्शन को 'वारकरी संप्रदाय' के लोग नियमित रूप से जाते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी तुलसी की माला गले में पहनते हैं और इसलिए इस सम्प्रदाय को 'मालकरी पन्थ' भी कहा जाता है।

सन्त ज्ञानेश्वर के समय में कर्मकाण्डों पर आधारित धर्म का केन्द्र पैठण आदि क्षेत्रों में था। लेकिन जिसमें कर्मकाण्ड का बिलकुल महत्त्व नहीं है, जो भक्ति प्रधान था और जिसके महाद्वार महाराष्ट्र के जनसाधारण के लिए खुले हुए थे, जो मराठी भाषा में भक्ति का प्रसार कर रहा था ऐसे "वारकरी सम्प्रदाय" का मुख्य केन्द्र पंढरपुर में बन चुका था। महाराष्ट्र के बहुजन समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले सन्त कवि, जो लगभग सभी वर्गों से आये थे, अपनी जात-पांत भुलाकर पंढरपुर स्थित विठोबा के सामने एक रूप हो गये थे। इन भक्तों में कौन नहीं था? सांवता माली, चोखा महार (हरिजन), गोरोबा कुंभार (कुम्हार) बंका महार (हरिजन) आदि थे। इनमें मुख्य सन्त थे—नामदेव, जो प्राप्ति से शिंपी अर्थात् दर्जी थे!

लोक-जागृति और लोक-संग्रह का जो महान् कार्य सन्त

ज्ञानेश्वर ने पैठण में आरम्भ किया था, उसके लिए पेठण से भी पंढरपुर अधिक आदर्श स्थान था। पैठण में उत्पन्न होकर यह पवित्र धारा पंढरपुर को ओर बह निकली थी। चातुर्वर्ण्य पर आधारित कर्मकाण्डमय धर्म के लिए यह सबसे बड़ी चुनौती थी। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने कार्य का पोषक समाज संघटित रूप में पंढरपुर में पाया। वे अपना तो अलग से पन्थ या धर्म चलाना नहीं चाहते थे। यदि वे ऐसा करना चाहते तो उन्हें पंढरपुर में जाने की आवश्यकता ही न पड़ती।

सन्त ज्ञानेश्वर नाथपन्थी थे। यह शैव पन्थ है। परन्तु जब वे पंढरपुर पहुँचे तो वहाँ के भागवत धर्मी अर्थात् वैष्णव पन्थी 'वारकरी सम्प्रदाय' ने अपने सम्प्रदाय की माला सन्त ज्ञानेश्वर को अर्पण कर उन्हें सम्प्रदाय के आचार्य पद पर बैठा दिया। सन्त ज्ञानेश्वर के कारण 'वारकरी सम्प्रदाय' को बल मिला। वह अधिक संगठित, व्यापक और शक्तिशाली बन गया। उसमें सन्त ज्ञानेश्वर के पूर्व केवल भक्ति का ही प्राधान्य था; अब उस भक्ति की गंगा में ज्ञान की यमुना भी आ मिली थी। ज्ञान और भक्ति का संगम हो गया। सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता में वर्णित निष्काम कर्मयोग पर जोर दिया था और उसे समझने की क्षमता इस समाज में थी। सन्त ज्ञानेश्वर ने निराकार, निर्गुण ईश्वरोपासना पर गीता की टीका में बल दिया था। परन्तु उन्होंने 'वारकरी सम्प्रदाय' की सगुण मूर्तिपूजा का भी विरोध नहीं किया। उसे भी अपना कर उन्होंने अपनी समन्वयवादी दृष्टिकोण का अच्छा परिचय दिया।

सन्त ज्ञानेश्वर के इस आचरण के कारण लोगों में कई प्रकार की धारणाएँ फैली हुई हैं। स्वयं विठोबा ने ही

सन्त ज्ञानेश्वर को विठ्ठल भक्ति के लिए प्रेरित किया था। इसके सम्बन्ध में एक दन्तकथा भी प्रचलित है। इसके अनुसार जब विठ्ठलपन्त अपने बच्चों के साथ पैठण गए तो वहां अकस्मात् उनके गुरु रामानन्द स्वामी से उनकी भेंट हो गई थी। रामानन्द स्वामी पंढरपुर से ही विठोबा का दर्शन करके आये थे। कहा जाता है कि स्वयं विठोबा ने ही सन्त ज्ञानेश्वर के गले में डालने के लिए एक तुलसी की माला रामानन्द स्वामी को दी थी। रामानन्द स्वामी ने वह माला सन्त ज्ञानेश्वर के गले में डाल दी।

संकल्पित कार्य के हित में समन्वयवादी सन्त ज्ञानेश्वर ने स्वयं शैव होते हुए भी वैष्णव पन्थियों के आचार्य-पद को ग्रहण कर अपने अद्वैत सिद्धान्त को आचरण में उतारा था। शैव और वैष्णवों में फैली हुई कटुता को कम करने की भी उनकी इच्छा होगी, ऐसा मानना अनुचित न होगा।

कार्तिकी एकादशी के दिन सन्त ज्ञानेश्वर अपने भाई और बहन मुक्ता तथा शिष्यों सहित पंढरपुर के लिए चल पड़े।

चन्द्रभागा नदी के बालुकामय तट पर सन्त नामदेव ने सन्त ज्ञानेश्वर का स्वागत किया। दोनों ने एक दूसरे का आलिंगन किया। ज्ञान और भक्ति एकरूप हो गये। ज्ञानदेव ज्ञान तो नामदेव भक्ति के प्रतीक थे। एक योगी था, तो दूसरा प्रेमी !

पंढरपुर में तत्कालीन सभी सन्त एकत्र हुए थे। सन्त ज्ञानेश्वर और सन्त नामदेव के नेतृत्व में सन्तों का अपूर्व सम्मेलन हुआ। भक्ति की ऐसी अभूतपूर्व बाढ़ आयी कि सभी जातियों, वर्णों और श्रेणियों के सामान्यजन और सन्त उसमें डूब गये।

पंढरपुर में रहने के बाद सन्त ज्ञानेश्वर नामदेव आदि सन्तों को लेकर उत्तर भारत की तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। सन्त नामदेव अपने विठोबा को छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। जब स्वयं विठोबा ने ही आदेश दिया तब कहीं वे जाने के लिए तैयार हुए। सन्त ज्ञानेश्वर ने सन्त नामदेव से कहा था कि वे अपना मनोगत कहना चाहते हैं।

नामदेव गाथा में इस तीर्थयात्रा और ज्ञानेश्वर-नामदेव की भक्तिविषयक चर्चा विस्तारपूर्वक दी हुई है। सन्त ज्ञानदेव और सन्त नामदेव की यात्रा में घटित एक चमत्कारपूर्ण घटना को भुलाया नहीं जा सकता। कहा जाता है कि जब वे एक रेगिस्तान के मार्ग से गुजर रहे थे तो सन्त नामदेव तृष्णा से व्याकुल हो उठे। मार्ग में एक कुआँ था। लेकिन पानी तो उस गहरे कुएँ के तल में था। सन्त ज्ञानेश्वर योगी थे इसलिए सूक्ष्म रूप धारण कर वे कुएँ में उतरे और पानी पीकर ऊपर आये। नामदेव ने ईश्वर-स्मरण शुरू किया तो देखते-देखते कुआँ भर गया और पानी ऊपर से बह निकला! यह घटना अत्यन्त शिक्षाप्रद थी। योग-मार्ग और भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में इसमें स्पष्ट संकेत था। योगमार्ग बड़ा कठिन है। पर उससे केवल योगी ही लाभ उठा सकते हैं। भक्तिमार्ग सरल है और हर कोई उससे लाभ उठा सकता है। योगबल से सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी प्यास तो बुझा ली, लेकिन सन्त नामदेव को पानी कहां मिला था? नामदेव के भक्तिमार्ग की विशेषता यह थी कि उन्होंने सबकी प्यास बुझायी थी!

अपनी अखिल भारतीय तीर्थयात्रा की अवधि में इन सन्तों ने कई चमत्कार दिखाये और उनके सम्बन्ध में अनेक दन्त-कथाएँ प्रचलित हैं।

आषाढ़ी कार्तिकी के दिन पंढरपुर में एकत्र होने की सब सन्तों की परिपाटी थी। उसी अवसर पर सन्त ज्ञानेश्वर और सन्त नामदेव तीर्थयात्रा पूर्ण कर पंढरपुर आ पहुँचे।

समाधि

शके १२१८ की कार्तिकी शुदी १० को जब सभी सन्त एकत्र हुए तो उनके समक्ष सन्त ज्ञानेश्वर ने जीवित समाधि लेने की अपनी इच्छा श्री विठोबा से निवेदन की। विठोबा ने उन्हें कार्तिक वदी १३ को समाधि लेने की आज्ञा दे दी।

सन्त ज्ञानेश्वर की इच्छानुसार समाधि के लिए आलंदी में स्थान निर्धारित किया गया।

आलंदी का नाम अलंकापुरी भी है। वहां शिवपीठ था और स्वयं सन्त ज्ञानेश्वर का ननिहाल भी! सिद्धेश्वर मन्दिर के बायीं ओर जो अजानवृक्ष था उसकी छाया में एक गुहा तैयार की गयी।

महाराष्ट्र के सभी सन्त उपस्थित हो चुके थे। कथा-कीर्तन और प्रवचन चल रहे थे। समाधि का दिन निकट आ रहा था। कार्तिक वदी १३ गुरुवार शके १२१८ दुर्मुखसंवत्सर का दिन आ पहुँचा। उस दिन सन्त ज्ञानेश्वर की आयु २१ वर्ष ३ महीने ५ दिन की थी।

सबकी आंखों से गंगा-यमुना बह रही थी। हृदय दुःख से भारी हो चुके थे। लेकिन सन्त ज्ञानेश्वर के चेहरे पर दिव्य-प्रसन्नता झलक रही थी। उनका चेहरा जगमगा रहा था। वे सभी भक्तों से मिल कर विदा ले रहे थे। तत्कालीन सन्तों ने इस पवित्र घटना का आँखों-देखा वृत्त वर्णन किया है। वह भावस्पर्शी वर्णन पढ़ कर पाठक की आंखें भर आती हैं। सन्त

नामदेव और सन्त जनाबाई की रचनाओं ने तो उन क्षणों को अमर कर डाला है।

माता-पिता के अकस्मात् चले जाने पर भी निवृत्तिनाथ का साहस ढलने नहीं पाया था वे आज एक छोटे से बालक के समान फूट-फूट कर रो रहे थे। समाधि की वेला जैसे निकट आ रही थी वैसे-वैसे सबका शोकावेग बढ़ता जा रहा था।

सन्त नामदेव और उनके बच्चों ने समाधि स्थल को सजाया था। शुभ्र वसन का आसन तैयार किया गया था। उस आसन पर तुलसी और बिल्वपत्र बिछाये गये थे। उनके ऊपर दुर्वा और दर्भ बिछाया गया था। सबके ऊपर फूल बिछाये गये थे।

सन्त ज्ञानेश्वर ने १०८ ओवियों का 'नमन' किया। यही उनका अन्तिम काव्य था। राम-भरत के समान सन्त ज्ञानदेव और निवृत्तिनाथ ने एक-दूसरे का आलिंगन किया। सोपानदेव को मिले और फिर मुक्ता को हृदय से लगा कर उसको सांत्वना दी।

सब एक टक देख रहे थे कि सन्त ज्ञानेश्वर समाधि की ओर बढ़ रहे हैं। उनके अन्तिम दर्शन के लिए सबकी आत्मा व्याकुल हो उठी थी।

सन्त ज्ञानेश्वर जो आसन पर जा बैठे। उनके समक्ष "ज्ञानेश्वरी" रखी हुई थी। उन्होंने निवृत्तिनाथ को अन्तिम वन्दन किया। जब तीन बार नमन कर चुके तो उन्होंने अपनी आंखें मूंद लीं।

निवृत्तिनाथ बाहर आये और उन्होंने समाधि के द्वार पर शिला रख दी। बाद में उपस्थित सन्तों ने भारी अन्तःकरण से शिला-पूजन कर सन्त ज्ञानेश्वर से अन्तिम विदा ली।

सन्त ज्ञानेश्वर समाधिस्थ हुए ही थे कि उनके भाई और इकलौती बहन मुक्ताबाई भी उनके पश्चात् एक के बाद एक इसी क्रम से आठ महीने में ही समाधिस्थ हो गये।

शके १२१८ के मार्गशीर्ष वदी १३ को सासवड में सोपानदेव ने समाधि ली। शके १२१९ के वैशाख वदी १२ को मुक्ताबाई समाधिस्थ हो गई। कहा जाता है कि तापी तट पर एदलाबाद के निकट मेहुणगाँव में आकाश मार्ग से बिजली की भयंकर ध्वनि सुनायी दी और उसी क्षण मुक्ताबाई अदृश्य हो गईं। इस घटना के पश्चात् केवल एक महीने में ही शके १२१९ की ज्येष्ठ वदी १२ को त्र्यंबकेश्वर में निवृत्तिनाथ समाधिस्थ हो गये।

सन्त ज्ञानेश्वर जी के अवतार कार्य के सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखना चाहिए कि उनका जन्म गीता की निम्नलिखित पंक्तियों के अनुसार यथासमय हुआ था।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

उपसंहार

सन्त ज्ञानेश्वर के समय उत्तर भारत में इसलामी साम्राज्य का उदय हो चुका था। विद्या के केन्द्र, तीर्थस्थान और धर्म-पीठ नष्ट होते जा रहे थे। दक्षिण भारत के शासकों ने इस परिस्थिति को ज़रा भी समझने की कोशिश नहीं की। देवगिरि के यादव शासक और उसके ब्राह्मण मन्त्री कर्मकाण्डों का महत्त्व बढ़ाने में ही लगे थे। जब धार्मिक परचक्र द्वार पर आ पहुँचा था तो भी सारे समाज को संगठित करने की ओर ध्यान न देकर दक्षिण के शासक ऐसी समाज-व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न करते रहे, जिसकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी। परिणामस्वरूप समाज अनगिनत टुकड़ों में विभाजित होता चला गया।

सन्त ज्ञानेश्वर दूरद्रष्टा थे। धर्म पर आने वाले संकट को उन्होंने पहचान लिया था। इसीलिए उन्होंने गीता में वर्णित निष्काम कर्मयोग का उपदेश देने का प्रयत्न किया। देवताओं की बढ़ती हुई सख्या और उस सख्या के अनुपात मे असंख्य टुकड़ों और परस्पर विरोधी समाज को संगठित करने के लिए उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त का प्रचार किया। उत्तर में मूर्तियों को, मन्दिरों को नष्ट होते देखा तो उन्होंने निर्गुण-निराकार की उपासना पर ज़ोर दिया। सन्त ज्ञानेश्वर ने देखा कि तीर्थस्थानों को नष्ट-भ्रष्ट किया जा रहा है तो उन्होंने तीर्थ-स्थानों को अधिक महत्त्व नहीं दिया। सब पन्थ, उपपन्थों को एक ही धर्म सगठन के भीतर लाकर समाज को संगठित करने

के लिए जैसे वे निर्गुण निराकार की उपासना पर बल देते रहे, अद्वैत सिद्धान्त का समर्थन करते रहे या एकेश्वर की भावना निर्माण करते रहे, वैसे वे समन्वयवादी थे। स्वयं निर्गुण निराकार के उपासक थे, परन्तु जनभावना का आदर कर विट्ठल-मूर्ति का दर्शन करने भी गये। स्वयं शैव होते हुए भी वैष्णव धर्मियों के 'वारकरी' सम्प्रदाय में बिना हिचकिचाहट के जा मिले। स्वयं योगी थे लेकिन सर्वसाधारण के सामने उन्होंने भक्तिमार्ग ही रखा। समन्वयवादी थे इसीलिए वे योग, ज्ञान और भक्तिमार्ग में अपूर्व समन्वय स्थापित कर सके थे।

सन्त ज्ञानेश्वर ने नये धर्म. पन्थ या समाज की स्थापना का प्रयत्न नहीं किया था। उन्होंने समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। उपनयन के प्रकरण से यह प्रमाणित हो जाता है कि वे धर्मशास्त्र और शास्त्रियों का मान रखना चाहते थे।

वे एक सफल धार्मिक नेता थे। समाज को संगठित करने वाले पुरुष में जिन गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है वे सब उनमें थे। सर्व-सग्राहक-वृत्ति, त्यागी भावना, उदार और समन्वयवादी दृष्टि आदि गुणों का उनके चरित्र में समावेश था। अपने उपदेशों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए उन्होंने महाराष्ट्र के बहुजन-समाज की भाषा मराठी को ही अपनाया और इस प्रकार सदियों से जो ज्ञान-प्रवाह संस्कृत के बांध में अटका हुआ था, उसे वे मुक्त कर सके। विलक्षण प्रतिभा से उन्होंने मराठी भाषा को संस्कृत के समकक्ष ला रखा, यह उनका महान् ऐतिहासिक कार्य समझा जाता है। अपने उपदेशों के व्यापक प्रसार के लिए जैसे उन्होंने बहुजन समाज की भाषा मराठी को निःसंकोच भाव से अपनाया, उसी

भाव से तत्कालीन परिस्थिति में 'वारकरी सम्प्रदाय' को अपने उपदेशों के लिए योग्य मान कर उन्होंने अपना लिया।

सन्त ज्ञानेश्वर के कारण महाराष्ट्र में एक ऐसी परम्परा स्थापित हुई जिसका प्रभाव वर्तमानकाल तक है। आगे आने वाले सन्तों ने और छत्रपति शिवाजी जैसे राजपुरुषों ने उसी महान् परम्परा को ही आगे बढ़ाया।

सन्त ज्ञानेश्वर ने जो कार्य केवल बाईस वर्ष की आयु में किया, उसे देखने पर यह मानना पड़ता है कि वह कोई दिव्य आत्मा थी जो गीता के वाणी के अनुसार धर्म की रक्षा करने के लिए प्रकट हुई थी। उनके लिए इन शब्दों में अपने उद्गार सन्त तुकाराम ने व्यक्त किये थे—

'महाराज ! आपके ज्ञान की गहराई हम क्या जानें ? मैं चरणों पर मस्तक रखता हूँ। मैं एक बालक हूँ। जो कुछ मैंने कहा है उसके लिए क्षमा कीजिए और अपने चरणों के पास छोटा-सा स्थान दीजिए।

तुका म्हणे नेणों युक्तीचिये खोलीं।
म्हणोनी ठेविलीं पायीं डोई ॥
बोलिलीं लेंकुरें।
वेडींवांकुडीं उत्तरें ॥
करा क्षमा अपराध।
महाराज तुम्हीं सिद्ध ॥
तुका म्हणे ज्ञानेश्वरा।
राखा पाया पें किंकरा ॥

लल्लेश्वरी

[१३५० ईसवी]

●

शशिशेखर

कश्मीर

कश्मीर कभी सतीसर था—एक बहुत बड़ी मनोरम झील जहाँ सती (पार्वती) नौका-विहार किया करती थीं। दैत्य जलोद्भव अपने को झील का स्वामी बनाना चाहता था; उसने देवी को तरह-तरह से सताना शुरू किया। तब प्रजापति कश्यप ने हिमालय के आँचल में झिलमिलाती इस झील का उद्धार किया। भगवान् के वराहावतार की कथा दोहराई गई। पर्वत में से शिलायें काट कर ऐसा मार्ग बना दिया गया जहाँ से पानी निकल सके। पानी निकल गया और धरती प्रकट हुई। यह जलोद्भव और उसके आतंक का अन्त था, क्योंकि सरोवर में छिपा रह कर ही वह मनमाने अत्याचार किया करता था। प्रजापति द्वारा प्रकट की गई इस धरती पर देवों और मानवों का वास हुआ। ऋषि-पुत्र नीलनाग इस देवभूमि के संरक्षक बनाये गये। इस स्थान का नाम हुआ कश्मीर-मण्डल। जल मे से इस धरती का उद्भव और देवताओं के वास के लिये दैत्यों से उसकी रक्षा—यह एक ऐसा प्रतीकात्मक महानाट्य है जो कश्मीर को ज़रथुस्त्र की एर्यानेम वेज या ईरान वेज की कल्पना से सम्बद्ध कर देता है। इस महानाट्य के अर्थ को लल्लेश्वरी से लेकर जिन्दा कौल तक कवि-संतों ने खोला और समझाया है।

लल्लेश्वरी का प्रभाव

लल्लेश्वरी महान् योगिनी थी; वे कश्मीरी की प्रथम कवयित्री भी हैं। हिन्दू हों या मुसलमान, ग्रामीण हों या

नगरवासी—कश्मीर के लक्ष-लक्ष वासियों के मन में लल्लेश्वरी के प्रति अपार श्रद्धा है, भक्ति है। प्यार और आदर से उसे 'ललद्यद'—लल्लदादी के नाम से पुकारा जाता है। उसने जो कुछ कहा वह लोक-परम्परा मे अब भी मुखर है। उसकी उक्तियां लोकोक्तियां बन गई हैं और प्रत्येक कश्मीरी की ज़बान पर हैं। तुलसी के मानस की ही भाँति लल्ला के 'वाखों' अर्थात् काव्यात्मक भाषा में कहे गये वचनों को अत्यधिक लोकप्रियता मिली है। कहीं कोई गोष्ठी हो, समागम हो या घर में ही कोई प्रसंग हो तो अपनी बात को ज़ोर देकर समझाने के लिये कश्मीरी स्त्री-पुरुष लल्ला की उक्तियां दोहरायेंगे ही। उसके बोल प्रत्येक परिवार में निवास करते हैं। कश्मीरियों के लिये लल्ला का व्यक्तित्व युगों से प्रेरणा और श्रद्धा का केन्द्र रहा है और अब भी है। सामान्य जन ही नहीं समकालीन और परवर्ती सूफी-सन्तों पर भी लल्लेश्वरी का प्रभाव बड़ा व्यापक रहा है। उन्होंने बड़े आदर से उसका नाम लेकर उसे अपना गुरु माना है।

बात विचित्र ही तो है कि जिस व्यक्ति ने कश्मीरी मानस को इतना प्रभावित व प्रेरित किया है उसका नामोल्लेख भी उस समय के इतिहासकारों ने नहीं किया। राजाओं और सुलतानों की चाटुकारी करने वाले 'इतिहासकार' जनसामान्य की भाषा में कविता करने वाली एक पागल स्त्री को भला क्या महत्त्व देते! दरबार और विद्वत्-समाज में प्रतिष्ठित भाषायें थीं संस्कृत और फारसी; मातृभाषा कश्मीरी को हेय दृष्टि से देखा जाता था। समकालीन इतिहास लेखक ने लल्ला का नामोल्लेख किया हो या नहीं, लोक-मानस में उसकी इतनी प्रतिष्ठा थी

कि आज भी गाँव-गाँव में, घर-घर में श्रुति-परम्परा से उसकी चमत्कारिक शक्ति की कहानियां दोहराई जाती हैं और उसके समकालीन तथा परवर्ती अनेक कवियों ने अपनी कविता में उसका वन्दन-अभिनन्दन किया है। यह इस कारण कि इन कवियों पर लल्ला के कृतित्व और विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था। वे भी उसी के रंग में रंगे थे। प्रसिद्ध सूफी कवि शम्स फकीर (१८४३ ई०) की लल्ला के बारे में कही गई ये पंक्तियां उदाहरण के लिये प्रस्तुत की जा सकती हैं—

को'र ललि इकवट आकाश-प्राण, ज्ञान मिल नाव भगवानससू'त्य
छ़लि गयि लल मच शुराह यार फानिस, वलि तमि को ज़गि टिकतार तरनस
वोपदीश करनि द्रायि नुन्द रेश्यानस, रिन्दव दोपहस ऐन-एरफान
छ़पि-छ़पिरस गिन्दुन शाह दमदानस, ज्ञान मिलनाव भगवानससू'त्य

अर्थात् लल्ला ने योगाभ्यास द्वारा प्राण और आकाश को एक किया। कहने को तो वह शुराहयार घाट पर नहाने को गई पर वास्तव में जेहलम तो क्या, उसने भवसागर का भी संतरण कर लिया। वह नुन्द ऋषि को उपदेश देने गई और विद्वानों ने इस उपदेश को 'अरफान' माना। लल्ला ने शाह हमदान के साथ भी आँख-मिचौनी खेली।

इन पंक्तियों में लल्ला के प्रति आदर और प्रशंसा-भाव का प्रदर्शन तो मिलता ही है, परन्तु उसके जीवन के एक महत्त्वपूर्ण तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है। वह यह कि लल्लेश्वरी शाह हमदान और नुंद ऋषि की समकालीन थी—तभी तो उसने नुन्द ऋषि को उपदेश दिया और शाह हमदान के साथ आँख-मिचौनी खेली! शाह हमदान या सैयद अली हमदानी कश्मीर में इस्लाम के प्रचार के लिये १३७९-८० ई० में हमदान (ईरान) से आया। तलवार के बल पर इस्लाम का

प्रचार हमदानी से पूर्व भी बड़े ज़ोर-शोर से हुआ, पर हमदानी ने इस्लाम प्रचार को एक सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में संगठित किया। कश्मीर इससे पूर्व बौद्ध धर्म का केन्द्र रह चुका था किन्तु उसमें अनेक विचार घुस आये थे और अब उसकी लोकप्रियता और प्रभाव घट चुके थे।

नवीं सदी में स्थानीय चिन्तकों और दार्शनिकों ने एक नई धार्मिक विचारधारा को जन्म दिया—वह थी कश्मीर का अद्वैत शैव-धर्म। कश्मीर का यह शैव-दर्शन दक्षिण के लकुलीश और वीर शैव मत से सर्वथा भिन्न था। नौवीं सदी से लेकर बारहवीं सदी तक वसुगुप्त से लेकर अभिनवगुप्त प्रभृति चिन्तकों ने इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन और प्रचार किया। लल्लेश्वरी के समय तक इस नये दर्शन-सम्प्रदाय ने कश्मीर में काफी सफलता और लोकप्रियता पाई थी। हमदानी और अन्य मुस्लिम सन्त, जो इन दिनों कश्मीर में इस्लाम का प्रचार करने आये, पहले ही सूफी थे और अन्त में शैव-धर्म के सम्पर्क में आकर उनके द्वारा प्रचारित इस्लाम ने एक अलग ही रूप धारण कर लिया। उसका कठमुल्लापन सर्वथा लुप्त हो गया और वह स्थानीय और भारतीय धार्मिक विचारधाराओं के पर्याप्त सीमा तक निकट आ गया। यही कारण है कि इन सूफियों द्वारा प्रचारित इस्लाम ने हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर वैमनस्य और घृणा के स्थान पर प्रेम, सहयोग और सहिष्णुता को जन्म दिया। तभी लल्ला हमदानी जैसे मुसलमान सन्तों के गहरे सम्पर्क में आ सकी।

हमदानी नक्शबन्दी सूफियों का नेता था। यह सम्प्रदाय उसके समसामयिक संत मुहम्मद बहाउद्दीन नक्शबन्द (१३१६-८६ ई०) ने स्थापित किया था। कई कारणों से राजनीति

से सम्बन्ध रखने के कारण नक्शबन्दियों की बादशाह से अनबन थी। सैयद अली को इन्हीं कारणों से ईरान के तत्कालीन शासक तिमूर से शत्रुता मोल लेनी पड़ी और अंततोगत्वा ७०० शिष्यों के साथ कश्मीर भागना पड़ा। कश्मीर में उन दिनों सुल्तान कुतुबुद्दीन का शासन था। सुल्तान हमदानी के व्यक्तित्व से बड़ा प्रभावित हुआ। कश्मीर में सैयद अली मृत्यु-पर्यन्त रहा और स्थानीय मुसलमानों के लिये बड़ी श्रद्धा तथा सम्मान का पात्र बन गया। कश्मीर में आने वाले इस्लाम-प्रचारकों में सैयद का प्रभाव इतना अधिक था कि उसे शाह हमदान के नाम से पुकारा जाता है। श्रीनगर की शाह हमदान मस्जिद अब भी उसके नाम से प्रसिद्ध है। मस्जिद का निर्माण सिकन्दर बुतशिकन (१३९६–१४१७ ई०) के शासनकाल में सैयद अली के उत्तराधिकारी मीर मुहम्मद द्वारा पूरा हुआ। मस्जिद को कश्मीर भर के मुसलमान बड़ा पवित्र स्थान मानते हैं।

सैयद अली हमदानी के साथ ही साथ लल्ला ने कश्मीर के एक अन्य महान् सन्त शेख नूरुद्दीन नूरानी के सम्पर्क में जीवन बिताया। शेख नूरुद्दीन जो कि त्रार इलाके का रहने वाला था, हिन्दुओं और मुसलमानों में समान श्रद्धा और आदर का पात्र रहा है। लल्लेश्वरी के ही समान उसे दोनों मतावलम्बी अपनाने में गौरव समझते हैं। हिन्दू उसे नुन्द ऋषि या सहजानन्द के नाम से पुकारते हैं। शेख नूरुद्दीन वास्तव में पीर-ए-शिशियान—ऋषियों के नये सम्प्रदाय के गुरु थे। 'पीर-ए-शिशियान' शब्द ध्यान देने योग्य है—यह संस्कृत और फारसी शब्दों के एक विचित्र संयोग से बना है और तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता और सहयोग का कुछ बोध

कराता है। इस महान् संत का प्रभाव कश्मीरी जन-मानस पर बहुत गहरा है; उसके उपदेशों को लल्लेश्वरी के उपदेशों की ही भाँति बड़ा महत्त्व दिया जाता है। उसके मकबरे पर प्रतिवर्ष एक बहुत बड़ा उर्स लगता है जिसमें भारी संख्या में हिन्दू और मुसलमान भाग लेते हैं। वैसे भी प्रत्येक बृहस्पतिवार को भक्तों के समूह उसकी दरगाह के दर्शनों के लिये ज़ार-ए-शरीफ में उमड़ पड़ते हैं। दोनों सम्प्रदायों के लोग यहाँ आकर मनोकामना पूरी होने के लिए प्रार्थना करते हैं, मनौतियां मानते और भेंट चढ़ाते हैं। कहते हैं, यहां ऐसा करने से मनोकामना अवश्य पूरी हो जाती है। नुन्द ऋषि की चमत्कारिक शक्तियों का बखान आज भी कश्मीर के घर-घर में होता है। रिनार्ड टेम्पल का मत है कि कश्मीरी संत शेख नूरुद्दीन के बारे में जो कुछ दन्तकथायें प्रसिद्ध हैं, वे वास्तव में ईरानी संत नुरुद्दीन लुत्फ-अल्लाह से सम्बन्ध रखती हैं जो तिमूर के पुत्र का मित्र था और जिसकी मृत्यु १४२५ ई० में हुई।

एक और मुसलमान संत, जो कि लल्लेश्वरी का समकालीन रहा है, शम्सुद्दीन ईरानी है। यह काफी प्रसिद्ध संत हुआ है और इसका मकबरा ज़ड़ीबल में है। इसे भी नक्शबन्दी सम्प्रदाय का अनुयायी माना जाता है। टेम्पल के मतानुसार सैयद अली हमदानी और शेख नूरुद्दीन से सम्बन्धित कथायें और शम्सुद्दीन से सम्बन्धित कथायें आपस में इतनी उलझ गई हैं कि यह पूरी तरह से कहा नहीं जा सकता कि निश्चयता कौन किसके बारे में है। परन्तु एक बात तो निश्चित है, वह यह कि शम्सुद्दीन शिया था जब कि शेख नूरुद्दीन और सैयद अली हमदानी सुन्नी मुसलमान थे।

जन्म और विवाह

लल्लेश्वरी का इन मुसलमान धार्मिक नेताओं से सम्बन्ध उसके जन्म-काल पर प्रकाश डालता है। इससे पता चलता है कि लल्ला चौदहवीं शती के मध्य में हुई थी। चौदहवीं शती का कश्मीर के इतिहास में बड़ा महत्त्व है। यह शती कश्मीर में बड़े-बड़े परिवर्तन लाई। इस्लाम का सुसंगठित प्रचार और उसका व्यापक प्रभाव इस युग का सबसे बड़ा परिवर्तन था। उसने कश्मीर में एक नई संस्कृति को जन्म दिया—एक संयुक्त हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति को। संस्कृत का प्रभाव धीरे-धीरे कम हुआ और फारसी को महत्त्व मिलने लगा—उसका प्रचार और प्रचलन हुआ। फिर भी संस्कृत अभी पूरी तरह मिटी नहीं थी और फारसी अभी पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नहीं हुई थी। पर इस सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इसी शती में कश्मीरी भाषा का विकास हुआ और उसमें साहित्य रचा गया। यह बात भी कम महत्त्व की नहीं कि कश्मीरी में काव्य-रचना का प्रथम युग एक नारी ने आरम्भ किया। ललद्यद के समय की कश्मीरी भाषा संस्कृतबहुला थी। लल्ला द्वारा प्रयुक्त कश्मीरी बोलचाल और साहित्यिक कश्मीरी का प्राचीनतम उपलब्ध रूप है। यों उससे पूर्व शितिकंठ का 'महायान प्रकाश' मिलता है, पर एक तो उसकी भाषा शुद्ध कश्मीरी न होकर अपभ्रंशात्मक थी और दूसरे उसके विषय का साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो लल्लद्यद की ही भाषा है जिससे आधुनिक कश्मीरी भाषा का विकास हुआ।

लल्लद्यद के जीवन की अधिकांश घटनाओं पर अभी तक पर्दा ही पड़ा है। जो थोड़ी-सी घटनायें प्रकाश में आ सकी हैं वे भी लल्ला की आध्यात्मिक शक्तियों से सम्बद्ध की जाने

के कारण अतिरंजित हैं। कहा जा चुका है कि लोगों में लल्ला का प्रभाव बड़ा व्यापक है और इस कारण लल्ला के जीवन-चरित्र के बारे में उन्होंने श्रद्धा से बहुत अधिक काम लिया है। महापुरुषों के साथ चमत्कारिक शक्तियों के ढेर को सम्बद्ध कर देना तो यहाँ के लोगों की एक विशेष मनोवृत्ति रही है। परिणाम यह है कि लल्ला की कोई भी प्रामाणिक जीवनी उपलब्ध नहीं। जो कुछ है वह जनश्रुति और अनुमान पर ही आधारित है।

लल्लेश्वरी का जन्म श्रीनगर से चार मील दूर पांद्रेंठन नामक स्थान के एक कश्मीरी पण्डित परिवार में सुल्तान अलाउद्दीन के शासन-काल में हुआ। सुल्तान अलाउद्दीन १३४० ई० में गद्दी पर बैठा; वह कश्मीर का तीसरा मुस्लिम शासक था। पाद्रेंठन प्राचीन पुराना धिष्ठान है जो कि कभी कश्मीर की राजधानी रह चुका है।

बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्धित जातक-कथाओं की ही भाँति लल्ला के पूर्वजन्म के बारे में भी रोचक कथायें प्रचलित हैं। कहते हैं लल्लेश्वरी के रूप में जन्म लेने से पूर्व उसने कश्मीर में कहीं पर जन्म लिया था और पांद्रेठन मे उसका विवाह हुआ था। विवाह के पश्चात् उसको एक पुत्र हुआ। इस परिवार का कुलगुरु सिद्ध श्रीकंठ नामक व्यक्ति था जो कि वसुगुप्त को सीधी शिष्य-परम्परा में था।

लल्ला के पूर्वजन्म के इस प्रसव के ग्यारहवें दिन सिद्ध श्रीकंठ शिशु का 'कहनेथर' संस्कार करने के लिये आया तो शिशु की माँ ने उससे प्रश्न किया—"इस नवजात शिशु के साथ मेरा क्या नाता है?" सिद्ध प्रश्न सुनकर हैरान हो गया। भला यह भी कोई प्रश्न था! बोला, "ठीक बात यह

है कि वह तुम्हारा पुत्र है।" "नहीं" उत्तर मिला। "तो वह कौन है ?" विस्मित सिद्ध ने ही अब को प्रश्न किया। वह इस पहेली को बूझ न सका। स्त्री ने उत्तर दिया, "मैं अभी मरने वाली हूँ और मारहोम गाँव में एक बिल्ली के रूप में जन्म लूँगी। तुम अमुक-अमुक चिह्नों से मुझे पहचान पाओगे। जिज्ञासा हो तो एक वर्ष बाद मारहोम में मुझे ढूँढ निकालो। तब मैं तुम्हें समुचित उत्तर दूंगी।"

ये शब्द कहते ही स्त्री की मृत्यु हो गई और लल्ला का दूसरा जन्म एक बिल्ली के रूप में मारहोम गाँव में हुआ। एक वर्ष व्यतीत होने पर सिद्ध श्रीकंठ मारहोम गया और बताये गये चिह्नों से युक्त बिल्ली की खोज करने लगा। खोज सफल हुई—सिद्ध को उन चिह्नों से युक्त बिल्ली मिल गई और उससे उसने वही पुराना प्रश्न पूछा। बिल्ली बोली, "देखो, मैं तुम्हें इसी समय इस बात का उत्तर देती पर मुझे अभी मर जाना है। मैं इस-इस प्रकार के चिह्नों से युक्त एक पिल्ले के रूप में बिजबिहारा में जन्म लूगी। तुम्हें अपने प्रश्न का उत्तर पाना हो तो तुम छः मास बाद मुझे बिजबिहारा में ही मिलो।"

उसने ये बातें कही ही थीं कि झाड़ी से एक शेर निकल आया और उसने उस बिल्ली को खा डाला। सिद्ध की जिज्ञासा और भी प्रबल हो गई और वह छः मास बाद उक्त पिल्ले को खोजने बिजबिहारा गया। चिह्न पहले ही बतला दिए गए थे, अतः पिल्ला आसानी से मिल गया। वही पुराना प्रश्न पिल्ले से पूछा गया और उत्तर से पता चला कि पिल्ला तत्काल मरने वाला था और अमुक स्थान पर पुनः जन्म लेने वाला था। सिद्ध को प्रश्न का उत्तर सुनना हो तो वह उसी स्थान

पर निर्दिष्ट अवधि के बाद पहुँचे। पिल्ला यह सब कह ही रहा था कि एक घोड़े के नीचे दब कर उसकी मृत्यु हो गई।

इस तरह छः जन्मों तक बेचारे सिद्ध को टाला जाता रहा। प्रश्न का उत्तर उसे मिला ही नहीं। तंग आकर उसने अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के प्रयत्न ही छोड़ दिए और वह अवन्तीपुर के समीप एक पहाड़ी वस्तर वन की ओर तपस्या करने के हेतु चला गया।

अन्ततः, लल्लेश्वरी का लल्लेश्वरी के रूप में जन्म उसी परिवार में हुआ जहाँ अपने पहले जन्म में प्रसव के ग्यारहवें दिन उसकी मृत्यु हुई थी। इस दन्तकथा के अनुसार यह उसका सातवां जन्म था। लल्लेश्वरी जब १२ वर्ष की थी तो उसका विवाह पाम्पोर (प्राचीन पद्मपुर), जिसे राजा अजातपीड के मन्त्री पद्म (८१२-८४६ ई०) ने बसाया, के द्रंगबल मुहल्ले में हुआ। लल्लेश्वरी के पति का पिता तो जीवित था किन्तु माँ सौतेली थी। विवाह की तिथि से एक दिन पूर्व सिद्ध श्रीकंठ वस्तर वन से लौटा और कन्या-पक्ष का कुलगुरु होने के नाते यह विवाह उसी ने सम्पन्न कराया। विवाह चल ही रहा था कि वधू ने सिद्ध के कान में कहा, "वह शिशु जिसे मैंने जना था और जिसका मुझसे सम्बन्ध जानने के लिये तुमने मेरे अनेक जन्मों में मेरा पीछा किया, यही लड़का है जोकि यहां दूल्हा बना बैठा है।" सिद्ध चकित हो गया, उसे पिछली सारी घटनायें याद हो आई।

इस विचित्र किंवदन्ती का अभिप्राय या उद्देश्य क्या है, यह स्पष्ट नहीं होता। शायद इससे यही पता चलता है कि लोग लल्ला को एक बहुत बड़ी योगिनी समझते थे और उसकी

ससुराल वालों के यहाँ ग्रह-शान्ति के अवसर पर एक भोज हो रहा था। भोज के लिये एक मोटे-ताज़े भेड़ को मारा गया। लल्लेश्वरी घड़ा लिये नदी पर पानी भरने जा रही थी तो सहसा पड़ोसी ने हंसी में उससे कहा, "तुम्हारे तो आज ठाठ हैं; तुम्हारे घर भोज का आयोजन है और बड़े बड़े भेड़ मारे गये है।" यह सुनकर लल्ला के मुँह से सहसा यह बात निकल गई—

"होगड मा'रितन किन कठ
नो'शि नीलवठ चलि न ज़ाह"

अर्थात् बड़ा भेड़ मारा जाये या छोटा, बहू को क्या। उसकी थाली से तो पत्थर कभी जायेगा नही।

संयोगवश लल्ला का ससुर समीप खड़ा था। उसने यह बात सुन ली और निश्चय किया कि वह बात का पता लगायेगा। शाम को जब उसकी पत्नी ने बहू के लिये थाली परोसी तो उसने अचानक पद्मावती के हाथ से थाली छीन ली। चावल हटाने पर नोचे से एक पत्थर निकल आया। बहू की बात सच निकली। अपनी बहू पर अपनी पत्नी का यह अत्याचार देखकर वह आग-बबूला हो गया और उसने उसे धिक्कारा और फटकारा। पर इससे स्थिति और भी बिगड़ गई। सास का व्यवहार और भो कड़ा हो गया। वह अपनी घृणा का प्रदर्शन प्रत्येक बात पर करने लगी। थाली में पत्थर रखने का भेद उसे और पद्मावती के अतिरिक्त किसी तीसरे को मालूम नहीं था। निश्चय था कि पद्मावती ने ही उसे प्रकट किया होगा, यह सोच सास जल-भुन गई। अब वह अपने बेटे को झूठी बातें सुना-सुना कर उसे बहू के विरुद्ध उकसाने और भड़काने लगी। पद्मावती पर दोहरा अत्याचार ढाया जाने लगा। पति उसके प्रति शंकालु हो गया।

लल्ला प्रतिदिन मुँह-अन्धेरे उठ कर (पाँव पानी में डुबोये बिना ही) नदी के पार चलते-चलते पहुँचती और ज़ैनवोरा गाँव के घाट पर स्थित नारकेश्वर भैरव के स्थापन में बैठकर ईश्वर के ध्यान में मग्न हो जाती। उस स्थान पर आज भी एक शहतूत का वृक्ष है। शंकाकुल पति ने एक दिन उसका पीछा किया, पर उक्त धार पर लल्ला को चुपचाप बैठे देखकर उसे कुछ भी समझ न आया। उसने सोचा कि उसकी स्त्री पागल हो गई है। पानी से भरा घड़ा लिये जब लल्ला लौटी तो क्रोध से पागल पति ने लाठी से सिर पर रखा घड़ा फोड़ डाला। घड़ा फट गया, पर फूटे घड़े से भी पानी गिरा नहीं, ज्यों का त्यों रहा। लल्ला ने उस पानी से घर के सभी बर्तन भर दिये। तब भी वह समाप्त नहीं हुआ। अन्त में शेष जल को घर के बाहर एक स्थान पर फेंक दिया और वहाँ तुरन्त एक सरोवर बन गया। इस सरोवर को लल त्राग कहा जाता है और वह आज भी विद्यमान है।

लल्ला मृणाल के तार से भी महीन सूत कात लेती थी पर फिर भी सास उस तार को मोटा कह कर उससे झगड़ पड़ती थी। आखिर तंग आकर लल्लेश्वरी ने जीवन का यह निरर्थक अध्याय बन्द करने की ठानी। उसने घर छोड़ दिया और अपने कपड़े भी उतार फेंके। दिव्योन्माद में वह इधर-उधर घूमने लगी। इन्हीं दिनों से उसे लल नाम भी प्राप्त हुआ। कश्मीरी भाषा में 'लल' का अर्थ लाड़ली होता है और प्यार से बहू-बेटियों को इस नाम से पुकारा जाता है। सम्भवतः, लल्ला को भी यह नाम प्यार के कारण ही लोगों ने दे दिया हो।

यह बात प्रसिद्ध है कि वह नग्न या अर्ध-नग्न अवस्था में

नाचती-गाती हुई मस्त, जगह्-जगह् घूम कर लोगों को अनुभूत सत्यों का उपदेश पद्य में देती थी। अपने इस अभ्यास के लिये लल्ला को अपमान और डाँट-फटकार सहनी पड़ी; पर उसने साफ कह दिया कि यह बाहरी विश्व तो भ्रम मात्र है। अतः, उसने अपने को अपने भीतर केन्द्रित कर लिया है जहाँ वह विराट से मिलन का अनुभव करती है। लल्ला का नाचना तो वास्तव में शिवजी के उस नृत्य के अनुरूप था, जो सृष्टि के उन्मेष के समय का नृत्य है। वह दिव्य-नृत्य था। उसे इस अवस्था में देखकर जब कुछ लोग उसे अशिष्टता के लिये डांट देते तो वह झट उत्तर दे उठती कि केवल वही पुरुष है जो ईश्वर से डरे और ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं। इस पर लोग उसे पागल समझने लगे। पर कुछ सयाने-समझदार लोगों को लल्ला ने अपनी वस्त्रहीनता का रहस्य बता दिया—

> गोरन दोपनम कुनुय वचुन
> न्य'बरि दोपनम अंदर अचुन
> सुय म्य ललि गोम वाख त वचुन
> तवय ह्योतुम नंगय नचुन !

इन पंक्तियों का भावानुवाद यों किया जा सकता है—

> हाँ, एक बात मुझसे मेरे गुरु बोले
> तू बाह्य छोड़ अन्तर पथ-गामिनि हो ले
> आदेश बने ये शब्द—प्रेरणा मेरी
> तब से मैं नाची नग्न, मग्न, पट खोले !

इसी अवस्था में नाचती-गाती और उपदेश देती लल्ला जब गलियों से गुजरती तो बच्चे पीछे हो लेते और बोलियां कसने लगते। पर लल्ला तो अब वीतराग हो चुकी थी। जो जीवन के खेल को जान गया हो उसे भला बच्चों का यह खेल क्या

खलता। एक बार एक बज़ाज़ की दुकान के समीप से वह जा रही थी कि बच्चों ने बोलियां कसना और तालियां बजाना शुरू किया। बज़ाज़ बच्चों की यह अशिष्टता देखकर उन पर बिगड़ उठा और उसने उन्हें डाँट कर भगा दिया। लल्ला को यह अच्छा न लगा।

वह बज़ाज़ के पास गई और उससे गज़ भर कपड़ा माँगा। बज़ाज़ कपड़ा देने को ही था कि लल्ला ने उससे उस कपड़े को दो बराबर भागों में काटने को कहा ताकि दोनों भागों का वज़न बराबर हो। बज़ाज़ ने वैसा ही किया और उन्हें तोला—स्वाभाविक ही है कि दोनों का वजन बराबर था। लल्ला ने कपड़े के दोनों भाग ले लिये और एक को एक कन्धे और दूसरे को दूसरे कन्धे पर रख कर वह बाज़ार से चल दी। राह में यदि कोई व्यक्ति उसका सत्कार-स्तुति करता तो वह बायें कन्धे पर रखे कपड़े में एक गाँठ डाल देती। इसी तरह यदि कोई उसे अपशब्द कहता या उसकी निन्दा करता तो वह दायें कन्धे पर पड़े कपड़े में एक गाँठ डाल देती। इस प्रकार गली बाज़ार से होती हुई वह जा रही थी और अपनी निन्दा या स्तुति सुनने पर बायें या दायें कन्धे पर पड़े कपड़े के भागों में गाँठे डालती जाती थी। दिन-भर ऐसा कर चुकने के बाद साँझ को वह उसी बज़ाज़ की दुकान पर लौटी। कपड़े के दोनों भाग बज़ाज़ को लौटाते हुए उसने उन्हें पुनः तोलने को कहा। स्वाभाविक था कि चाहे जितनी भी गाँठें उनमें पड़ी थीं, वे तोल के बराबर निकले। इस पर लल्ला मुस्कराती हुई उससे बोली, "यदि निन्दा या स्तुति से इस कपड़े में कोई अन्तर नहीं आया तो मैं तो मनुष्य हूँ। फिर भला तुम इन लड़कों पर क्यों बिगड़े ?" बज़ाज़ उत्तर में क्या कहता।

श्रद्धा-युक्त मौन में उसका सिर झुक गया। लल्ला ने उसे समझाया—

हासा बोल परिनम सासा
म्य मनि वासा खेद नो ह्यये
युद्वय शकर बखत आसा
मुकरिस स्वासा मल क्याह प्यये !

अर्थात्—कोई मेरी कितनी ही खिल्ली क्यों न उड़ाये, मुझे हजार गालियाँ ही क्यों न सुनाये, पर उससे मेरे मन में तनिक भी खेद नहीं होगा। मैं शंकर की भक्त जो हूँ। दर्पण पर पड़ी राख से भला दर्पण मैला होता है क्या !

लल्ला की आध्यात्मिकता

मीरां भी दर्द-दीवानी होकर वन-वन डोली थीं। पर उसके दर्द और लल्लेश्वरी के दर्द में थोड़ा अन्तर है। मीरा मूलतः भक्त थी, लल्ला शैव-योगिनी। वसुगुप्त, सोमानन्द और अभिनवगुप्त जैसे महान दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित शैव-मत लल्ला की चिन्तना का आधार था। शैवधर्म के मर्म को उसने अपने 'वाखों' द्वारा जन-जन को समझाया। कुछ लोग भले ही उसे बावली कहते पर अधिकाँश तो बड़ी श्रद्धा और जिज्ञासा से उसकी बात सुनते-गुनते थे। लल्ला की काव्यात्मक उक्तियों ने लोगों के हृदयों पर इतना प्रभाव इसलिए डाला कि-वे उनकी अपनी भाषा—कश्मीरी में थी। कश्मीर शैवधर्म के प्रतिपादक विचारकों की शिक्षा ने लोगों को अनुप्रेरित किया था, उनकी प्रतिष्ठा जन-मानस में पथ-प्रदर्शकों के रूप में हो चुकी थी। लल्ला की कविता में उन धार्मिक सिद्धान्तों की सुबोध और सरस अभिव्यक्ति थी। पर उसकी

कवितामात्र पुस्तक-वर्णित धर्म नहीं है—उसमें लोगों के विश्वास-विचार और आशा-निराशा का स्पन्दन है।

शैवधर्म की दीक्षा उसने अपने कुलगुरु बूढे सिद्ध श्रीकंठ से ली। स्यद्ध बोय या सिद्ध श्रीकंठ कश्मीर शैवधर्म के संस्थापक वसुगुप्त की शिष्य परम्परा में से था। वह पाम्पोर के नम्बलबल मुहल्ले में रहता था। सिद्ध के घर के समीप एक गुफा थी जहाँ बैठकर वह और लल्लेश्वरी साधना किया करते थे। इस गुफा का आजकल कोई अस्तित्व नहीं है। हाँ, जिस घाट पर सिद्ध नहाया करता था, वह अब भी विद्यमान है और सिद्धयार के नाम से प्रसिद्ध है। घाट के प्रति लोग बड़ी श्रद्धा रखते हैं। उनका विश्वास है कि उसमें स्नान करने से पुण्य-लाभ होता है।

कहने को तो सिद्ध लल्ला के गुरु थे, पर ऐसी अनेक किंवदन्तियां प्रचलित है जिनके अनुसार वह आध्यात्मिक क्षेत्र में उससे भी आगे निकल गई थी। इतना ही नहीं, शिष्या गुरु की ग़ल्तियाँ भी भाँप जाती थी और उन पर टिप्पणी कर बैठती थी। कहते हैं कि एक दिन सिद्ध दरिया पर नहा रहा था। लल्ला भी उसके थोड़ी दूर एक गन्दा बर्तन माँज रही थी। सिद्ध उसे ऐसा करते देख हँस पड़ा और बोला कि, "केवल बाहर से माँजने पर बर्तन भीतर से शुद्ध नहीं हो सकता।"

"तो आप स्नान द्वारा मात्र शरीर को साफ करके भीतर से भी कैसे शुद्ध हो जायेंगे!" लल्ला ने झट से उत्तर दिया। लल्ला ने कर्म के सारतत्त्व को ग्रहण किया था। वह उसे ही महत्त्व देती थी, बाहरी पूजा-विधान और आडम्बर को नहीं।

कबीर तो इसी ग्राडम्बर को देखकर क्षुब्ध हो बोल पड़े थे—

'मन न रंगायो, रंगायो जोगी कपरा ।'

एक ग्रन्य कथा में भी शिष्या गुरु को हैरान कर देती है। एक दिन सिद्ध चांद्रायन के ग्रवसर पर साधना कर रहा था। उसे चालीस दिन का व्रत था। लल्ला उससे मिलने के हेतु घर पहुँची तो वहाँ उसे न पाकर उसने सिद्ध की पत्नी से उसके विषय में पूछा। वह बोली—"सु छु करान ज़फ" (वे जप कर रहे हैं)। यह सुनकर लल्ला कह उठी—"न, नंद्रमर्गि ड्यूठुस गुरिस टफ" (नहीं, वह ग्रपने उस घोड़े के बारे में सोच रहा है जो नन्दमर्ग में है)। सिद्ध ने बात सुन ली; वह ग्रत्यन्त लज्जित हो गया। उपासना करते-करते उसका मन वास्तव में भटक गया था; वह ग्रपने उस घोड़े के बारे में सोच रहा था जिसे उसने नंदमर्ग चरने के लिए भेजा था।

लल्ला की ग्राध्यात्मिक शक्ति की बात प्रसिद्ध हो चली। उसे पगली कह कर दुत्कारने वाले भी उसका सत्कार करने लगे। कुत्सा के स्थान पर ग्रब उसे पूजा मिलने लगी। ग्रपनी ग्राखरी वाणी में वह लोगों को विराट से साक्षात्कार के रहस्यों को, शैवधर्म के मर्म को समझाने लगी। सामान्य व्यवहार की भाषा ग्रौर दैनिक जीवन से लिये गये दृष्टान्तों द्वारा लल्ला ने जनता को वह सुझाया-बताया जो मोटी-मोटी पोथियाँ भी उन्हें बतला-सिखला नहीं सकती थीं। जहाँ भी वह जाती उसके उपदेश सुनने के लिये भीड़ की भीड़ उमड़ पड़ती। उसे योगेश्वरी माना गया। लल्ला को यह सम्मान ग्रौर सत्कार जनसाधारण से तो मिला ही, उस युग के बड़े-बड़े साधक ग्रौर सिद्ध, संत ग्रौर सूफी भी उसे बहुत मानते थे; उसका सत्संग पाने के यत्न करते रहते। जिन संतों-फकीरों

का लल्ला से निकट सम्बन्ध था उनमें शाहहमदान और नुन्दऋषि प्रमुख थे। इन दोनों मुसलमान संतों से लल्ला की बड़ी घनिष्ठता थी। ये साधक वास्तव में उस युग के आध्यात्मिक आन्दोलन के केन्द्र थे। प्रायः वे अध्यात्म-गोष्ठियों में धर्म-चर्चा किया करते। बात शायद विचित्र लगे कि परस्पर विरोधी मतों के अनुयायी एक दूसरे के इतने निकट थे—वह भी उस युग में। पर ज़रा गहराई से देखने पर यह विरोधाभास स्पष्ट हो जाता है, रहता ही नहीं। जिस इस्लाम में ये सत विश्वास रखते थे और जिसके प्रचार में वे संलग्न थे वह कट्टर-पथियों द्वारा प्रचारित जेहाद नहीं, एक शाँतिपूर्ण वैचारिक आन्दोलन था। अपने मूल-स्वरूप में यह आन्दोलन हिन्दू विचारधारा से भिन्नता नहीं, अत्यधिक साम्य रखता था। उपनिषदों, वेदान्त, योग तथा कश्मीर शैवमत के दर्शनों का उस पर इतना अधिक प्रभाव था कि भेद करना कठिन हो जाता था। इन विचारों को फैलाने में तलवार का प्रयोग नहीं किया गया जैसा कि इस्लाम के प्रचारकों ने प्रायः किया है। यह नहीं कि कश्मीर में तलवार के आतंक ने इस्लाम को फैलाया नहीं; परन्तु लल्लेश्वरी के युग में प्रचार का नेतृत्व कठमुल्लाओं और धर्मांध शासकों के हाथ में नहीं सूफियों के हाथ में था। घृणा और वैमनस्य नहीं, प्रेम और सहिष्णुता उनका अस्त्र था। यह और बात है कि लल्ला का युग बीतते ही कश्मीर को सिकन्दर बुतशिकन के समय में भयंकर घृणा, नृशंसता और पाशविकता का नंगा नाच देखना पड़ा। परन्तु लल्ला के युग में हिन्दू विचारधाराओं और सूफी मत ने सह-अस्तित्व का एक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया।

नक्शबन्दी सम्प्रदाय के सूफी प्राणायाम की ही भान्ति

श्वासनियमन की क्रियाएँ किया करते थे। वे आत्मा के जन्म-जन्मान्तर के सिद्धान्त को मानते थे और अपने प्रवचनों में यह विश्वास प्रकट करते थे कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा नया शरीर ग्रहण करके पुनः संसार में आ जाती है। हिन्दुओं की ही भान्ति वे जन्म-मरण के इस चक्र से मुक्ति के उपाय सोचा और सुझाया करते। मुक्ति, उनके विचार में, तभी प्राप्त हो सकती है, जब व्यक्ति ईश्वर के ध्यान में अनन्यता से डूब जाय। मन ईश्वर में इतना लीन रहना चाहिए कि भीड़ में भी विचलित न हो, भटके नहीं, "अपने अन्तस्तल में ध्यान केन्द्रित करो। आंखें बन्द करो और मुँह भी, जिह्वा तालू से लगी रहे, दाँत एक-दूसरे से सटे हों। अब श्वास रोको और 'ईश्वर के अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं'—ये शब्द जिह्वा द्वारा उच्चारण करके नहीं, हृदय में दोहराओ।" ऐसा करोगे तो मुक्ति अवश्य मिलेगी। ससार के आकर्षणों से छूट जाओगे! इसका अवश्य फल मिलेगा क्योंकि हृदय मानव-अहं का केन्द्र है, मानव-अस्तित्व का सार। सारा संसार हृदय का ही विकसित स्वरूप है। जैसे बीज में वृक्ष निहित रहता है वैसे ही हृदय में सारी सृष्टि निहित है। पवित्र पुस्तक कुरान का सार उसमें भरा पड़ा है। हृदय से सूफियों का अभिप्राय मन से था।

यदि नाम न दिया जाये तो सूफियों के ये उपदेश हिन्दू सन्तों के प्रवचनों से कोई अन्तर रखते नहीं दीख पड़ते। दोनों में भेद करना कठिन है। सूफी अपने को सत्य का अनन्य उपासक मानते थे। समस्त सृष्टि को संचालित करने वाली शक्ति परमात्मा का प्रेम ही है। और स्वय सृष्टि परमात्मा का आत्म-प्रकाशन नहीं तो और क्या है। जो कुछ है सभी उसी का अशरूप है। जैसे सूर्य की किरणें सूर्य से निःसृत होकर पुनः

सूर्य में विलीन हो जाती हैं वैसे ही आत्मा पुनः परमात्मा में विलीन हो जाती है। यह विलय ही सूफियों का ध्येय था, यही इनकी ललक थी और यह सम्भव है निरन्तर उसकी प्रेम-साधना में युक्त रहने से। साधना में प्रवृत्त करने और पथ-प्रदर्शक के लिये गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण और श्रद्धा की आवश्यकता है। सूफियों के ये विचार इस्लाम के कट्टर-पंथियों को मान्य नहीं थे—यह तो कुफ्र था! अतः सूफियों पर सत्ताधीशों ने भान्ति-भान्ति के अत्याचार किए, उन्हें यातनायें दीं।

नक्शबन्दी सम्प्रदाय भी उदारपंथी था। उसके अनुयायी सैयद दलितों और दुर्बलों के रक्षक और सहायक थे। वे निराशों और दलितों के हिमायती थे और इनके लिये निर्भयता से आवाज़ उठाते थे। वे स्पष्टता से अपने इस विचार को प्रचारित करते थे कि अकेला राजा ही शासन-कार्य को ढंग से चलाने के लिए काफी नहीं। उसे मनमानी से रोकने और ईश्वरीय नियमों के अनुसार चलाने के लिये दिव्य-प्रेरणा से अनुप्रेरित कोई आध्यात्मिक परामर्शदाता अवश्य होना चाहिए। सैयदों की इस विचारधारा के कारण उनकी प्रायः शासकों से अनबन रहती थी और शासक उन्हें तंग करने की कोशिशें करते रहते थे; राज्य-सत्ता का यह अपमान उन्हें सह्य न था। जैसा कि पहले भी कहा गया है, सैयद हमदानी को शायद इन्हीं कारणों से हमदान छोड़ कश्मीर आना पड़ा होगा। पर जनश्रुति में एक और मनोरंजक कथा प्रसिद्ध है जिसका सम्बन्ध लल्लेश्वरी से है। इस कथा के अनुसार मध्य-एशिया के प्रसिद्ध बादशाह तिमूर (१३७८ ई०) का स्वभाव था कि वह भेस बदल कर राजधानी में घूमा करता था कि

प्रजा के सुख-दुःख का उसे सच्चा हाल मालूम हो सके। एक रात भिखारी का भेस बनाये वह नगर में घूम रहा था कि उसे एक घर से एक बालक का क्रन्दन सुनाई दिया। भीतर घुसा तो पता लगा कि बहुत गरीबी के कारण बालक और उसके माँ-बाप कई दिनों से भूखे थे। भूख के कारण ही बालक बिलख रहा था। दृश्य ने शाही भिखारी को हिला दिया। घोर दरिद्रता का यह तांडव देखकर वह द्रवित हो उठा और शीघ्र ही रोते बालक के लिये रोटी लेकर लौटा। जाते-जाते बादशाह उनके आंगन में अशरफियों का एक थैला छोड़ गया और खुदा से दुआ की कि वह इस दरिद्र परिवार को सुखी और सम्पन्न बनाये। भोर होने पर गृहिणी उठी तो आंगन में थैला देख फूली न समाई। एक अशरफी लेकर वह पड़ोस में रहने वाले एक सैयद के यहाँ भुनाने गई। दुष्ट सैयद ने स्त्री से अशरफी के बारे में पूछताछ की और न केवल वह थैला उससे छीन लिया अपि तु उलटे बेचारी पर अभियोग लगाया कि उसने वह थैला उसका चुराया है। बेचारी स्त्री रोती-कलपती तिमूर के पास फरियाद करने गई। तिमूर को अशरफियों का रहस्य तो मालूम था ही, उसने सैयद को दरबार में बुलाया। वह सैयद और उसकी ओर से प्रस्तुत सभी गवाह—जो कि सारे के सारे सैयद ही थे—शपथ लेकर कहने लगे कि औरत ने थैला चुराया है। झूठी गवाही सुनने पर बादशाह क्रोध से आपे में न रहा। उसने छल से छीना गया धन औरत को लौटाया और घोषणा की कि उसके राज्य में रहने वाले सभी सैयदों को गर्म लोहे के घोड़े पर बैठ कर अपनी शुद्धता की परीक्षा देनी होगी। यह भयानक घोषणा सुनकर सैयद काँप उठे। अग्नि-परीक्षा तो वे क्या खाक देते,

भयभीत होकर रातों-रात नगर से भाग गये। केवल सैयद हमदानी इस भयानक कसौटी पर खरा उतरा। गर्म लोहे के घोड़े पर चढ़ने पर भी उस पर आँच न आई। करिश्मा देख लोग स्तम्भित रह गये, परन्तु सैयद अली वहां नहीं रह सका। (सन् १३७८ ई० में) वह हमदान से कश्मीर की ओर चल पड़ा।

उधर श्रीनगर से (१० मील दक्षिण पश्चिम में) शोवियान जाने वाली सड़क पर लल्ला चली जा रही थी—नंग-धड़ंग, अपनी ही तरंग में! शाह हमदान को आते देख वह तुरन्त भाग गई। ऐसा करना लल्ला के लिये अजीब बात थी। वह किसी भी पुरुष के सामने न लज्जा अनुभव करती और न तन ढाँपने का यत्न करती थी। उसके लिये वे सब पुरुष थे ही नहीं। उसे भागता देख लोग विस्मित हो गये। पूछने पर लल्ला ने कहा, उसने सचमुच एक पुरुष देखा है। अतः लज्जा निवारण के लिये उसे वस्त्र चाहिएँ—वह नंगी जो है! ऐसी अवस्था में वह उस 'पुरुष' से मिल कैसे सकती है! वस्त्र माँगने के हेतु वह एक बनिये के पास गई पर बनिये ने इन्कार कर दिया। इस पर वह एक नानबाई की दुकान की ओर भागी और इससे पूर्व कि वह उसे रोके या कुछ कहे लल्ला तन्दूर में घुस गई और ऊपर से ढक्कन लगा दिया। तन्दूर में रोटियां सिक रही थीं अतः वह बहुत गर्म था। भय के मारे बेचारा नानबाई स्तंभित रह गया कि उसे अब बादशाह की ओर से सज़ा मिलेगी। सहसा लल्लेश्वरी तन्दूर से निकली और आश्चर्य विस्फारित नेत्रों से नानबाई ने देखा कि वह जल कर कोयला होने के बजाय एक निराली कांति लिये थी और दिव्य-स्वर्णिम वस्त्र पहने हुए थी! और इस (दन्त)

कथा ने जन्म दिया एक प्रसिद्ध कश्मीरी कहावत को—"आई थी बनिये के पास और गई नानबाई के पास !" नानबाई के पास से दिव्य वस्त्रों से आभूषित योगिनी तब शाह हमदान से मिलने गई। कहते हैं, लल्लेश्वरी का इस प्रकार गर्म तन्दूर में कूद पड़ना और दिव्य वस्त्र पहन कर बाहर आने का उद्देश्य जहाँ सैयद अली के प्रति मान दिखलाना था, वहाँ उसका मान-भंग करना भी था। वह उसे गर्म लोहे पर चढ़ने की सामर्थ्य का गर्व भुला देना चाहती थी !

शाह हमदान की ही भान्ति नुन्द ऋषि से लल्ला का घनिष्ठ सम्पर्क था। शेख नूरुद्दीन के जन्म से ही दोनों की आध्यात्मिक विभूतियों में परस्पर सम्बन्ध था। लल्लेश्वरी नूरुद्दीन की 'दुद मा'जि' ('दूध की माँ' godmother) थी। जन्म लेने पर शिशु नूरुद्दीन माँ का दूध नहीं पीता था। लल्ला ने यह देखा तो उसे सम्बोधित करते हुए कहा—'ज़्यन मंदछोख न त च्यन क्याज़ि छुख मदछान ?" अर्थात्—"जन्म लेने में तो शर्म नहीं हुई तो दूध पीने में कौनसी शर्म लग रही है !" इस पर शिशु तुरन्त माँ का स्तन पीने लगा। शिशु की माँ से लल्ला ने उसका नाम पूछा। उत्तर मिला "सोदर"। यह सुन लल्ला ने कहा, "सोद्रिछि मोक्तय नेरान !" अर्थात्—"समुद्र से तो मोती ही निकलते है।" कश्मीरी में 'सोदर' शब्द का अर्थ होता है समुद्र।

नुन्द ऋषि बड़ा हुआ तो वह, उसका शिष्य बाबा नसरुद्दीन और लल्लेश्वरी प्रायः मिला करते और आध्यात्मिक विषयों की चर्चा छिड़ जाती। इन गोष्ठियों में कभी-कभी विनोद और नोक-झोंक भी होती रहती। लल्ला प्रायः अपनी वाग्विदग्धता के कारण इस नोक-झोंक, आध्यात्मिक चर्चा

और वाग्प्रतियोगिताओं में सबसे आगे रहती। ये चर्चायें प्राचीन फारसी में लिखी पुस्तकों 'ऋषिनामा' और 'नूरनामा' में संग्रहीत हैं।

एक बार ऐसे ही तीनों बैठे बातचीत कर रहे थे कि बाबा नसरुद्दीन ने कहा—

सिरियस ह्यू प्रकाश नो कुने
गंगि ह्यू नो तीरथ कॉह
बा'यिस ह्यू नो बाँद्व कुने
रनि ह्यू नो सोख कॉह

अर्थात्—सूर्य की-सी रोशनी दूसरी नहीं है। गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं। भाई के समान सगा कोई और नहीं और पत्नी-सा कोई सुख नहीं यह सुन शेख नूरुद्दीन ने कहा—

अछिन ह्यू नो प्रकाश कुने
कोठ्यन ह्यू नो तीरथ कॉह
चँदस ह्यू नो बाँद्व कुने
ख्यनस ह्यू नो सोख कॉह

अर्थात्—आंखों का-सा प्रकाश कहीं और नहीं। अपने ही घुटनों के समान कोई दूसरा तीर्थ नहीं। जेब-सा सगा कोई दूसरा नहीं और खाने-हँसने के सुख के समान कोई सुख नहीं।

और अन्त में लल्लेश्वरी बोली—

मयस ह्यू नो प्रकाश कुने
पयस ह्यू नो तीरथ कॉह
दयस ह्यू नो बाँद्व कुने
भयस ह्यू नो सोख कॉह

अर्थात्—ईश्वर की प्रेम-मदिरा-सी ज्योति कोई दूसरी नहीं। ईश्वर की खोज के समान कोई तीर्थ नहीं। स्वयं

ईश्वर-सा कोई सगा नहीं और ईश्वर के भय-सा कोई सुख नहीं।

यों तो लल्ला के जीवन के विषय में जो कुछ भी ज्ञात हो सका है, वह उसकी चमत्कारिक लीला से भरा पड़ा है, किन्तु कई ऐसे चमत्कार उसके नाम से जुड़े हुए हैं जिनमें लोक-मानस का गहरा विश्वास है। उसके चमत्कारों की इन कथाओं से यह पता चलता है कि लोग उसे कितनी महान् अलौकिक विभूति समझते थे। टेम्पल का विचार है कि ये सब कथायें लोक-कथाओं का ही बिगड़ा हुआ रूप है जिसमें लल्ला का नाम आरोपित किया गया है। ग्रियर्सन इनमें से किसी एक को भी विश्वसनीय नहीं मानता; मगर किसी भी कश्मीरी पण्डित से पूछिए, उसे इन सब कथाओं में शतशः विश्वास है।

कहते हैं कि एक दिन लल्लेश्वरी के गुरु सिद्ध बोयू के मन में अपनी शिष्या का योगबल देखने की इच्छा हुई। इस आशय से वह उसके पास गया तो उसने अपनी शक्ति का कुछ प्रदर्शन करना स्वीकार किया। पूर्णिमा की रात को वह एक शुद्ध किये गये कमरे में घुसी और वहाँ स्थिर खड़ी रही। एक मिट्टी की थाली—जिसे कश्मीरी में 'टोक' कहते हैं—उसने अपने सिर ऊपर उल्टी रखी और एक पाँव के नीचे। ज्यों-ज्यों चाँद की कलायें घटती जाती थीं उसका शरीर भी लघु होता जाता था और अमावस को वे दोनों 'टोक' मिल गये—ऊपर वाले टोक ने निचले टोक को ठीक तरह से ढँक लिया। आश्चर्य-चकित सिद्ध प्रतिदिन यह सब कुछ देखा करता था। अमावस को उसने कमरे में प्रवेश किया तो उसे घोर विस्मय हुआ। ऊपर वाला 'टोक' उसने हटाया तो निचले 'टोक' में पारे की भाँति कोई वस्तुचमक रही थी और काँप-सी रही थी।

पुन: चाँद के बढ़ने के साथ-साथ योगिनी का शरीर भी आकार में बढ़ने लगा और पूर्णिमा को वह फिर अपने पूर्व रूप में दिखलाई दी। सिद्ध हैरान तो था ही—अपनी ही शिष्या से अपनी शका का निवारण भी उसे कराना पड़ा। उसने लल्ला से थाली में चमक रही वस्तु के काँपने का रहस्य पूछा। तुलसी की-सी विनय दिखलाते हुए लल्ला ने कहा कि वह चमकती वस्तु लल्ला का ही लघु स्वरूप था और उसके काँपने का कारण था कि कही यह तपस्या भी ईश्वर को अस्वीकार न हो। उसकी कृपा के बिना तो मनुष्य के कृत्यों का कोई महत्त्व नही। शिष्या की यह महानता देखकर गुरु का माथा नत हो गया—

गव चाठा गोरस खसिथय

सुयवर दितम दीवा !

शिष्य गुरु से भी आगे निकल गया है; हे ईश्वर, वर दो कि मैं भी उसी के समान हो जाऊँ।

एक और कथा—पाम्पोर में नाट्य-प्रदर्शन हो रहा था। दर्शकों की भारी भीड़ एकत्रित हुई थी। अर्धनग्न अवस्था में लल्ला भी वहाँ जा पहुँची। भीड़ में उसका ससुर भी मौजूद था। उसने लल्ला को वस्त्र-विहीन देखा तो पास बुला कर इस अभद्रता के लिये डाँटा। लल्ला हँसी, बोली—यहां कोई आदमी है ही नहीं तो लज्जा-निवारण किस लिए ? ससुर ने समझा कि लल्लेश्वरी सचमुच पागल हो गई है। मगर लल्ला के कहने पर जब उसने स्वयं खिड़की से झाँका तो विचित्र दृश्य था। कहीं कोई आदमी न था; सारी जगह ढोरों, चूजों और अन्य पशुओं से भरी पड़ी थी। बेचारे के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

नुन्द ऋषि, लल्लेश्वरी और शाह हमदान मिलने पर प्रायः अपना-अपना कमाल दिखलाते थे। लल्ला दोनों को पछाड़ उनके गर्व को चूर कर देती थी। इस आशय की अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं।

एक कथा के अनुसार तीनों एक दिन लुकन-छिपाई का एक खेल खेल रहे थे। नूरुद्दीन और शाह हमदान छिपे तो लल्ला ने उन्हें झट ढूँढ निकाला। लल्ला की छिपने की बारी आई। उसने उनसे कहा कि यदि वे उसे ढूँढ न पायें तो तीन बार उसे उसका नाम ले पुकारें, वह प्रकट हो जायेगी। लल्ला छिपी तो लाख खोजने पर भी उन दोनों के हाथ न आई। हार कर दोनों ने उसे तीन बार नाम लेकर पुकारा, तब कहीं वह दिखाई दी। पूछने पर उसने बताया कि उसने अपने शरीर को पाँच तत्त्वों से मिला लिया था, अतः उसे इधर-उधर खोजना निरर्थक था।

तीनों के बारे में एक और कथा—तीनों बैठे थे; साथ में सिद्ध श्रीकंठ भी था। आध्यात्मिक विषय की चर्चा चल रही थी कि सहसा आकाश पर बादल का टुकड़ा फैलता हुआ दिखाई दिया, उसके साथ-साथ आँधी भी आई। यह देख शाह हमदान ने भविष्यवाणी की—"बारिश होगी।" "नहीं ओले पड़ेंगे"—शेख नूरुद्दीन ने उसे काटा। सिद्ध ने कहा—"वर्षा या ओले नहीं पड़ेंगे, हिमपात होगा"। उन्हें ऐसी भविष्य-वाणियाँ करते देख लल्ला ने तीनों को डाँट बताई—"फुकर अय त मकर क्या ?" अर्थात् 'फकीरी है तो मक्कारी क्यों ?'। किन्तु इस वाक्य का एक और अर्थ है—'मकर' कश्मीरी में पोस्ते के बीज के समान जमी हुई बर्फ को भी कहते हैं। लल्ला ने ये शब्द कहे नहीं थे कि सचमुच मकर पड़ने लगी।

एक कथा और—शाह हमदान ने चाहा कि लल्लेश्वरी को अपना रूहानी कमाल दिखाये। उसने एक पतीले में कुछ चावल डाले और पानी भी। वह पतीला उसने अपने सिर पर रखा। कुछ ही देर में पानी गर्म हो गया और चावल उबलने लगे। यह अभिमान-प्रदर्शन लल्लेश्वरी को अच्छा न लगा। गर्वीले सूफी का गर्व दूर करने के हेतु वह उसे नदी के किनारे ले गई। वहाँ पहुँच लल्ला ने नदी के पानी में अपना हाथ डाला। उसने हाथ डाला ही था कि नदी का सारा पानी गर्म होकर उबलने लगा। हमदानी लज्जित हो गया।

ऐसी ही अनेक कथायें लल्लेश्वरी के चमत्कारों के विषयों में प्रसिद्ध हैं। इन कथाओं से लोगों की उस योगिनी के प्रति अपार श्रद्धा झलकती है। मगर स्वय लल्ला ने चमत्कारों को कोई महत्त्व नहीं दिया, उसकी दृष्टि में यह सब तमाशा है, विनोद है, हेय है—

भड़की हुई आग को पल में शान्त कर देना,
या आकाश में दो पाँवों पर चलना
या लकड़ी की गाय को दोह कर दूध निकालना
यह सब कितना ही अद्भुत क्यों न लगे, यह तो मदारी का खेल ही है!

लल्ला की मृत्यु काफी वृद्धावस्था में बिजनिहारा की जामा मस्जिद के दक्षिण पूर्व भाग में हुई। बिजनिहारा श्रीनगर से २८ मील दक्षिण पूर्व में स्थित है। कहते हैं कि मृत्यु के समय उसने स्वयं अपनी देह का परित्याग किया और उसकी आत्मा एक दिव्य-ज्योति का रूप धारण कर ऊपर को उठी और आकाश में अन्तर्धान हो गई।

विचार

लल्लेश्वरी की दार्शनिक मान्यतायें उस दर्शन पर आधारित थीं जो कि जीवन और संसार को असत्य न मान कर उनमें आस्था रखना सिखलाता है; जिसके अनुसार यह विश्व शिव का आत्म-प्रकाशन है, उसका काव्य है। जैसे काव्य कवि की कल्पना में अन्तर्हित रहता है वैसे ही संसार भी पहले शिव में अन्तर्हित था और प्रलय के समय पुनः अन्तर्हित हो जाता है। शिव, भक्ति और आत्मा की चर्चा करने वाला यह कश्मीर शैव-दर्शन त्रिक दर्शन कहलाता है और इसे आस्तिक दर्शनों में सब से अधिक युक्त और तर्क-सगत कहा जा सकता है। वास्तव में यह दर्शन किसी सकीर्ण मतवाद का प्रचार नहीं करता—यह तो एक सार्वदेशिक दर्शन है। इस दर्शन का प्रादुर्भाव कश्मीर में नौवीं शताब्दि में हुआ। श्रीकंठ के रूप में स्वयं शिव ने इसका प्रतिपादन किया। अतः यह अपने मूल रूप में अपौरुषेय है। त्रिक दर्शन ग्रन्थों के तीन मुख्य भाग किये जा सकते हैं—शिवसूत्र, स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञा दर्शन। इनमें से प्रथम शिव-सूत्र तो स्वयं शिव द्वारा कहे गये हैं; टिप्पणियों और व्याख्या-सहित स्पंदशास्त्र की वसुगुप्त (८५० ई०) ने रचना की; प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रतिपादक रहे हैं वसुगुप्त के समसामयिक दार्शनिक सोमानन्द। ग्यारहवीं शताब्दी में अभिनवगुप्त ने इन दार्शनिक सूत्रों को संगठित करके एक रूप दिया और अनेक ग्रन्थों की रचना करके इसकी व्याख्या की। वास्तव में कश्मीर शैवधर्म का वर्तमान स्वरूप उसे अभिनव-गुप्त द्वारा ही दिया गया है। लल्लेश्वरी के समय में इन

महान दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित यह धर्म कश्मीर में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुका था। लल्ला ने इन दार्शनिक सत्यों को अपने छन्दों द्वारा लोक-मानस में स्थापित किया ताकि सभी सत्य का साक्षात्कार करें। सत्य से—विराट से, शिव से साक्षात्कार ही उसकी दृष्टि में जीवन का चरम लक्ष्य है। इसी से मुक्ति की प्राप्ति होती है। वास्तव में आत्मा में और शिव में कोई भी अन्तर नहीं—इस समय के उदय होते ही व्यक्ति परम-शिव से एकाकार हो जाता है। जो इस बात में विश्वास नहीं रखते वे अज्ञानी है, मूर्ख है! लल्लेश्वरी का विश्वास था कि बिना शिव को समर्पित किये मानव द्वारा कृत कर्मो का कोई महत्त्व नहीं। वास्तव में उसकी शिव की कल्पना बहुत ही उदात्त है। इस शिव से मिलन ही तो मुक्ति है। और मुक्तिकामी व्यक्ति को अन्य सभी सांसारिक इच्छायें त्याग देनी चाहिएँ। अपने इन विश्वासों, विचारों को लल्ला ने सुन्दर काव्य भाषा में व्यक्त किया।

लल्लेश्वरी की शैवधर्म में आस्था थी परन्तु उसने संकीर्ण मतवादों के घेरों को कभी स्वीकार नहीं किया। उसने जो कुछ कहा वह तो सार्वभौम अपील रखता है। किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष को अन्य धर्मों या सम्प्रदायों से श्रेष्ठ मानने की भावना का उसने खुल कर विरोध किया। उसके विचार उदार थे, उदात्त थे। ब्रह्म को चाहे जिस नाम से पुकारो वह ब्रह्म ही रहता है; सच्चा सन्त वही है जो प्रेम और सेवाभाव से सारी मानव जाति के कष्टों को दूर करे; व्यक्ति जो कुछ भी करे वह हिन्दू हो या मुसलमान—चाहे जिन साधनों द्वारा जीविका का उपार्जन करे—इस सबका कोई महत्त्व

नहीं यदि वह उचित उपायों द्वारा शिव की खोज में रत रहे।

शिव वा केशव वा जिन वा

कमलज़नाथ वा नावधरे

म़्य अबलि का'स्यत्यन भवरुज़

सुहवा सुहवा सुहवा सुह !

अर्थात्—वह शिव हो या केशव हो या जिनदेव हो; उसे कमलजनाथ कह कर ही कोई क्यों न पुकारे—इससे क्या होता हैं। मैं अबला भवरोग से रुग्णा हूँ—मेरे रोग को वह दूर करे, चाहे वह, वह हो, या वह, या वह !

लल्ला कबीर की भाँति क्रान्तिकारी व्यक्तित्व रखती थी। जहाँ उसमें विभिन्न धर्मों के विचारों को समन्वित करने की अद्‌भुत शक्ति थी वहाँ वह धार्मिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, अस्तस्थ मान्यताओं और रीतियों पर कड़े प्रहार किया करती थी। इसकी चोट बड़ी घातक थी—कठमुल्ला और धर्म के नाम पर लोगों को ठगने वाले उससे तिलमिला उठते थे। वह लोगों को यह समझाती फिरती थी कि धार्मिक बाह्याडम्बरों का वास्तव धर्म से, ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं। तीर्थयात्राओं और शरीर को कष्ट देकर की जाने वाली तपस्याओं से ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती—नहीं ही होती। बाहरी पूजा एक ढकोसला मात्र है—

गगन चय भूतल चय

चय द्यन पवन त राथ

अर्धचंदुन पोष-पोश चय

चय अय सकल त ल'गज़ि क्याह !

अर्थात्—देव, फिर पूजा कैसी आज

तू ही पवन, गगन, भूतल तू, तू ही दिन तू रात
तू ही अर्घ्य-पुष्प-जल-चन्दन, सब कुछ तू ही तात
व्यर्थ आरती, व्यर्थ अर्चना की वह भ्रममय बात
व्यर्थ ये पूजा के सब साज !

देवी-देवताओं को पशु-बलि देना कश्मीर में एक बहुप्रचलित धार्मिक प्रथा रही है, और आज भी है। "अचेतन पत्थर को चेतन बकरे" की यह बलि लल्लेश्वरी को सह्य नहीं थी। उसने स्पष्ट शब्दों में धर्म के पोंगा-पंथियों को ऐसे सब कृत्यों को बन्द कर देने को कहा जिनसे मानव अपनी मानवता खो बैठता है। अपने उग्र विचारों के कारण उसे संकीर्ण मतवादियों का कड़ा विरोध सहना पड़ा। नग्नावस्था में घूमने की उसकी आदत को लेकर उसके विरुद्ध घृणित प्रचार किया गया। परन्तु लल्ला ने तर्क से उनके मुँह बन्द कर दिये—यह बाह्य संसार तो वास्तविक नहीं, व्यक्तिमात्र शरीर तो नहीं, वास्तविक है यह परमशिव और उससे मिलने के लिए बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी होने की आवश्यकता। कभी-कभी पण्डितों की मूढ़ता से वह बहुत खीझ उठती थीं—

पोथी पर पोथी ये रटते रहते फिर भी कोरे—
ये पण्डित, ये अविचारी कुछ ज्ञान न इनमें गड़ता
राम नाम का पाठ कि ज्यों पिंजड़े का तोता पढ़ता
गीता पढ़ना एक दिखावा—धिक् रे इनकी जड़ता
सुनी-गुनी गीता मैंने भी, लेकिन ये मति भोरे—
पोथी पर पोथी रटते रहते कोरे के कोरे !

शास्त्रों की तोता-रटन्त को नहीं व्यक्ति की निजी आध्यात्मिक उपलब्धियों को उसने महत्त्व दिया। आध्यात्मिक

उपलब्धि पूजा के बाह्य विधानों या पत्थर की मूर्तियों को नमन करने से नहीं होती, यह उसका स्पष्ट विश्वास था। मूर्ति-पूजा का विरोध जिस तीव्रता से और जिन शब्दों में लल्लेश्वरी ने किया उससे सहसा कबीर की याद आ जाती है—वही निर्भयता, वही खुली चुनौती, वही स्पष्टवादिता ! इसी बात को लेकर अपने गुरु तक से उसकी झड़प हुई। गुरु सिद्ध श्रीकंठ मन्दिर में बैठे उपासना कर रहे थे कि लल्लेश्वरी वहाँ आ पहुँची और कहा कि वह शौच-निवृत्ति के लिए आई है। गुरु अत्यन्त क्रुद्ध हुए और अपनी शिष्या को बुरी तरह से फटकारा। शिष्या हँसी, बोली—जिन पत्थरों की तुम उपासना करते हो वे तो सभी जगह पड़े हैं, फिर मन्दिर में पड़े पत्थरों को ही परमात्मा क्यों मान लिया जाये। "अकय शिल छ्य पटस त पीठस"—चक्की का बाट और मन्दिर की मूर्ति तो एक ही शिला की बनी है ! फिर क्यों न चक्की के बाट की ही पूजा की जाये ! अरे पण्डित योगाभ्यास द्वारा आत्मा और शिव को एक करो—यही सच्ची साधना है—

पूजता किसे अरे नादान ?
पाहन है यह देव और देवालय भी पाषाण
पर दोनों वाहन हैं पण्डित, तू धरता किसका ध्यान ?
मन औ' पवन मिला ले—पूजा का यह सही विधान
मूढ़ रे ! बाकी सब अज्ञान !

यों मध्य युग के अन्य सन्त कवियों की भाँति लल्लेश्वरी को उलट-बाँसियों और कूट पदों का शौक था; मगर उसने अधिकतर जन-भाषा में ही जन को ईश्वरत्व से परिचित कराया। उसे अपने में पूरा विश्वास था। उसे विश्वास था कि उसने शिव की प्राप्ति कर ली है और अब वह अपने 'वचनों

की सुधा' द्वारा औरों का प्यास मिटा रही है। परन्तु लल्ला के वचनों का प्रमुख स्वर रहा है उसका उदात्त और उग्र मानवतावाद शिव और जीवात्मा को एक समझने वाली साधिका मानव को हेय कैसे और क्यों कर माने। इसीलिए मानवों पर जहाँ भी, जैसा भी अन्याय होता, लल्ला के मन में उसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होती। और अपनी इस प्रतिक्रिया को वह स्वयं ईश्वर के, साहब के, शिव के सम्मुख स्पष्ट शब्द में व्यक्त करती थी। उसे दुख होता था यह देखकर कि, "कुछ लोग हैं जो शिशिर की आँधी में काँप रहे सूखे पत्ते के समान दीन हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो मूर्ख होते हुए भी रसोइये को अस्वादिष्ट भोजन बनाने के लिए डाँटते हैं।" फिर भी उसे विश्वास है कि आखिर ईश्वर इन दुःखों को दूर करेगा ही। यही विश्वास दुःखी मानव जाति में उसने गा गाकर जगाया।

चैतन्य महाप्रभु

[१४८५–१५३३]

●

सुदर्शनसिंह 'चक्र'

स्थान एवं कुल

आप जिसे आज नवद्वीप समझते, कहते है वह प्राचीन कुलिया ग्राम है। यह गंगा के पश्चिम तट पर अवस्थित है। प्राचीन नवद्वीप इसके ठीक सामने गंगा के पूर्व तट पर था। उसे नवद्वीप इसलिये कहते थे कि उसमें गंगा की विभिन्न धाराओं के मध्य भाग में बसे नौ द्वीप सम्मिलित थे— १. अन्तःद्वीप, २. सीमन्तद्वीप, ३. गोद्रुमद्वीप, ४. मध्यद्वीप, ५. कोलद्वीप, ६. ऋतुद्वीप, ७. जह्नुद्वीप, ८. मोदक द्रुमद्वीप और ९. रुद्रद्वीप।

इन द्वीपों में से मध्यद्वीप में स्थित मायापुर में श्री चैतन्य के पिता का घर था। आज इस मध्यद्वीप का कहीं कोई पता नहीं। भागीरथी की धारा में ये सभी द्वीप लुप्त हो चुके हैं।

उस समय गौड़ देश के शासक हुसैनखां थे, ये पहले गौड़ेश्वर सुबुद्धिराय के सेवक थे। किन्तु पीछे विश्वासघात करके इन्होंने उनको बन्दी बना लिया और स्वय शासक बन गये। इन्होंने प्रायः सभी प्रधान नगरों में काजी नियुक्त किये तथा कोतवाल भी रखे। ये कोतवाल प्रायः उत्पातो एवं प्रजा को पीड़ा देने वाले ही हुए। वैसे हुसैनखां उदार शासक थे। उनके यहां उच्च पदों पर अनेक हिन्दू अधिकारी थे।

बंगाल में शाक्तधर्म का प्राबल्य था। वाममार्गियों के मठ स्थान-स्थान पर थे। उनमें 'पञ्च मकार' का खुल कर खेल

चलता था। नर-बलि देने वाले उग्र कापालिक भी कम नहीं थे। समाज में इनका आतङ्क था।

वंगीय समाज में ब्राह्मण, कायस्थ और वैद्य, यही तीन संपन्न तथा शिक्षित वर्ग थे। इनमें कायस्थ फ़ारसी अधिक पढ़ते थे और शासन के लिखा-पढ़ी के पदों पर अधिकांश ये ही लोग थे।

नवद्वीप (नदिया) उस समय संस्कृत विद्या का केन्द्र था। दूर-दूर से ब्राह्मण कुमार यहाँ न्याय, व्याकरण, साहित्य का अध्ययन करते थे। बहुत दिनों तक मिथिला न्यायशास्त्र का केन्द्र रहा था; किन्तु अब नवद्वीप को भी वही गौरव प्राप्त हो चुका था।

अध्ययन करने आये विद्वानों में जो अधिक प्रतिभाशाली होते थे, वे प्रायः अध्ययन समाप्त करके नवद्वीप में या आसपास ही कहीं अपनी पाठशाला खोल लेते थे और वहीं बस जाते थे। परन्तु जो वहाँ के विद्वत्समाज में अपना स्थान नहीं बना पाते थे, वे घर लौट जाते या अन्यत्र कहीं चले जाते थे।

इस प्रकार नवद्वीप विद्वानों तथा विद्याव्यसनी छात्रों का नगर बन गया था। देश-विख्यात विद्वानों की पाठशालायें वहाँ थीं। स्थान-स्थान पर शास्त्रीय वाद-विवाद चलते ही रहते थे। अध्ययन तथा कीर्ति का अर्जन, यही उन दिनों विद्वानों का मुख्य लक्ष्य था।

वंश परिचय

असम प्रान्त के श्रीहट्ट (सिलहट) नगर में भारद्वाज गोत्रीय श्री उपेन्द्र मिश्र का भवन था। वे विद्वान् तथा प्रतिष्ठित कुलीन ब्राह्मण थे। उनके सात पुत्र थे—१. कंसारि।

२. परमानन्द। ३. पद्मनाभ। ४. सर्वेश्वर। ५. जगन्नाथ। ६. जनार्दन और ७. त्रैलोक्यनाथ। इनमें से पञ्चम पुत्र श्री जगन्नाथ पिता की आज्ञा से अध्ययन करने नवद्वीप आये और वहाँ के प्रख्यात विद्वान् श्री गंगादास जी की पाठशाला में अध्ययन करने लगे।

पण्डित श्री जगन्नाथ मिश्र प्रतिभासम्पन्न थे। अध्ययन पूर्ण होने पर पाठशाला से उन्हें 'पुरन्दर' की उपाधि प्राप्त हुई। नवद्वीप और मध्यद्वीप के अन्तर्गत मायापुर में सिलहट से आये अनेक ब्राह्मणों ने अपने आवास बना लिये थे। श्री जगन्नाथ मिश्र ने भी इसी मुहल्ले में घर बनाया।

फरीदपुर जिले के मगडोवा नामक ग्राम से पण्डित श्री नीलाम्बर चक्रवर्ती भी नवद्वीप विद्याध्ययन करने ही आये थे और अध्ययन समाप्त करके यहीं के निवासी बन चुके थे। उनका घर काजीपाड़ा के समीप बैल प्रकरिया में था। इनके दो पुत्र यज्ञेश्वर तथा हिरण्य थे और दो कन्यायें थीं।

श्री नीलाम्बर चक्रवर्ती ने अपनी बड़ी कन्या श्रीमती शचीदेवी का विवाह श्री जगन्नाथ मिश्र से कर दिया। उनकी छोटी पुत्री का परिणय श्री चन्द्रशेखर आचार्यरत्न से हुआ।

गार्हस्थ्य स्वीकार करने के पश्चात् श्रीमती शचीदेवी के गर्भ से श्री जगन्नाथ मिश्र को क्रमशः ८ कन्यायें हुई—किन्तु इनमें से कोई अधिक दिन जीवित नहीं रही। शैशव में ही इनका शरीरान्त हुआ। नौंवी वार श्रीमती शचीदेवी की गोद पुत्र से पूर्ण हुई। श्री जगन्नाथ मिश्र ने अपने इस पुत्र का नाम विश्वरूप रखा। ये विश्वरूप श्री चैतन्य के अग्रज थे।

जन्म एवं बाल्यकाल

विश्वरूप की अवस्था जब सात वर्ष की हो गई, उनकी माता शचीदेवी अन्तर्वत्नी हुई। इस बार जो शिशु उनकी कुक्षि में आया था; वह सामान्य शिशु नहीं था। गर्भ से ही उसकी असाधारणता व्यक्त होने लगी। पूरे तेरह महीने माता के गर्भ में रहकर वह प्रकट हुआ।

विक्रम संवत् १५४२ की फाल्गुन पूर्णिमा थी—होलिका-दहन का पुण्यपर्व और उस दिन सायंकाल ही चन्द्रग्रहण था, उधर चन्द्रबिम्ब ग्रहण से मुक्त हुआ और इधर श्री जगन्नाथ मिश्र की पत्नी की गोद में चैतन्यचन्द्र का आविर्भाव हुआ।

प्रसूतिकागार नीमवृक्ष की छाया में था, अतः पिता ने अपने पुत्र का नाम 'निमाई' रखा। यह बालक अत्यन्त गौरवर्ण था। उसके तप्त काञ्चन वर्ण के कारण लोग उसे 'गौर' या 'गौराङ्ग' कहने लगे। माता के गर्भ में तेरह महीने रहने के कारण जन्म के समय ही बालक का शरीर वर्ष भर के शिशु के समान था।

शैशव में निमाई में एक विचित्रता थी। वे जब कभी रोने लगते थे तो किसी भी प्रकार चुप होने का नाम नहीं लेते थे। शान्त वे तभी होते थे, जब कोई उनके पास 'हरि बोल, हरि बोल' का गायन करने लगे।

गौर वर्ण, दीर्घ काय, आजानु बाहु, चारूनेत्र, उन्नत भाल, घुंघराले केश और पाटलारुण-कर-चरण बालक निमाई अत्यन्त सुन्दर एव मनोहर थे। उनका सौन्दर्य सभी के चित्त को बलात् अपनी ओर खींच लेता था।

निमाई के अग्रज विश्वरूप शैशव से ही गम्भीर स्वभाव के

थे। विद्याध्ययन के साथ परमार्थ-चिन्तन में उनकी विशेष रुचि थी। वे शान्तिपुर में श्री अद्वैताचार्य की पाठशाला में अध्ययन करते थे। उनकी अवस्था जब सोलह वर्ष की हो गई, श्री जगन्नाथ मिश्र को पुत्र के विवाह की चिन्ता हुई। उन्होंने अपने पुत्र के उपयुक्त कन्या ढूँढने की बात घटक से कही।

श्री विश्वरूप सहज विरक्त स्वभाव के थे। अपने विवाह की चर्चा उठती देख उन्हें लगा कि पिता उन्हें संसार के बंधनों में उलझा देना चाहते हैं। पिता के आदेश का सम्मुख प्रतिवाद उन्होंने न कभी किया था, न कर सकते थे। अपने ममेरे भाई लोकनाथ ही उनके अतरंग थे और लोकनाथ भी किसी प्रकार विश्वरूप का साथ छोड़ नहीं सकते थे। अन्ततः, एक दिन दोनों भाई रात्रि में ही गृह-त्याग कर निकल गये।

विश्वरूप ने जब घर छोड़ा; माता-पिता को असह्य शोक होना स्वाभाविक था। पता लगाने पर भी उनका कोई पता नहीं लगा। बहुत पीछे निमाई जब संन्यास लेकर पुरी से दक्षिण भारत की यात्रा पर गये थे, तब उन्हें पता लगा कि उनके अग्रज ने संन्यास ग्रहण कर लिया था। उनका सन्यास का नाम श्री शंकरारण्य था और संन्यास लेने के दो वर्ष बाद ही पण्ढरपुर क्षेत्र में उन्होंने देह-त्याग दिया था।

अध्ययन का आग्रह

श्री विश्वरूप के गृह-त्याग से पण्डित जगन्नाथ मिश्र का चित्त अत्यन्त व्याकुल हो गया। उन्हें लगा कि विद्याध्ययन का ही परिणाम है कि उनका ज्येष्ठ पुत्र माता-पिता को छोड़कर चला गया। अतः, उन्होंने निमाई से कहा—'तुम्हें मेरी शपथ है, तुम पढ़ना बन्द कर दो!'

निमाई का यज्ञोपवीत हो चुका था। उनकी अवस्था नौ वर्ष की थी। पिता की आज्ञा से उन्होंने पढ़ना बन्द तो कर दिया; किन्तु यह बात उन्हें बहुत कष्टकर प्रतीत हुई। नौ वर्ष के बालक में विद्यानुराग ! परन्तु निमाई तो सभी बातों में लोकोत्तर थे।

पिता की आज्ञा स्वीकार करके निमाई चुप बैठ जाने वाले नहीं थे। पिता की आज्ञा भंग भी उन्हें नहीं करना था। अब वे नाना प्रकार के उत्पात करने लगे। कभी चिथड़े लपेट कर, नेत्रों पर पट्टी बाँध कर अपने ही घर भीख मांगने पहुँच जाते। पड़ोसियों के यहाँ उनके शिशुओं को तंग करते। एक दिन तो कूड़े के ढेर पर ही जा बैठे और जूठी हँडिया फोड़ हाथों में पहन लीं।

श्रीमती शची माता अत्यन्त शौचाचार-परायणा थीं। पुत्र इस प्रकार अपवित्र स्थान में मलिन वेश बना कर बैठे, इस समाचार से ही वे आर्त हो उठती थीं; किन्तु निमाई कहते थे—'ब्राह्मण का मूर्ख बालक अंधा ही तो है। वह भिक्षा ही तो मांगेगा। अपठित को पवित्र-अपवित्र का क्या पता ? मुझे पढ़ने नहीं दिया जायगा तो मैं यह सब मूर्ख बालकों के काम करूँगा ही।'

अन्ततः, माता अपने पुत्र के हठ से हार गई। पण्डित जगन्नाथ मिश्र को भी लोगों ने समझाया कि बच्चों का अध्ययन का आग्रह तो सौभाग्य की बात है। उसे रोकना नहीं चाहिये। पत्नी तथा सुहृदों का आग्रह मान कर मिश्र जी ने निमाई को पढ़ने की आज्ञा दे दी।

प्रकाण्ड पाण्डित्य

श्री गंगादास जी की पाठशाला में निमाई ने अध्ययन आरम्भ किया। परन्तु विद्याध्ययन प्रारम्भ होकर अभी थोड़े समय ही चला था कि श्री जगन्नाथ मिश्र का परलोकवास हो गया। ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही निमाई पितृहीन हो गए। दुःखिनी माता के अब एकमात्र वही आधार रह गये थे। उन्होंने माता को आश्वासन दिया और विद्योपार्जन मे जुट गये।

निमाई की प्रतिभा अद्भुत थी, बाल-वयस् में ही उन्होंने व्याकरण पर एक टिप्पणी लिखी। सहपाठियों ने उस टिप्पणी को अपने लिये उपयोग में लिया और धीरे-धीरे नवद्वीप से बाहर के विद्वान् भी अध्यापन में उस टिप्पणी का उपयोग करने लगे।

व्याकरण के अध्यापन के साथ निमाई वासुदेव सार्वभौम की पाठशाला में न्याय का पाठ सुनने जाते थे। वे नियमित छात्र उस पाठशाला के नहीं बने; किन्तु वहाँ जाकर पीछे बैठ जाते और दूसरे विद्यार्थियों को जो पढ़ाया जाता, उसे सुना करते थे। इन्हीं दिनों न्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दीधति' के ग्रन्थकार रघुनाथ से उनका परिचय एवं मैत्री हो गई।

अद्भुत त्याग

श्री रघुनाथ न्यायशास्त्र में पारंगत हो चुके थे। वे 'दीधिति' की रचना कर रहे थे। उन्हें पता लगा कि निमाई भी न्याय पर कोई ग्रन्थ लिख रहे हैं। एक दिन दोनों मित्र जब नौका पर गंगा पार जाने के लिए बैठे तो रघुनाथ ने निमाई से उनका ग्रन्थ सुनने का आग्रह किया। सरल भाव से निमाई उन्हें ग्रन्थ के पन्ने पढ़ कर सुनाने लगे।

निमाई पढ कर सुनाने में लगे थे। उन्होंने बीच में नेत्र उठाये तो देखा कि उनके मित्र के दोनों नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है। चकित होकर उन्होंने रुदन का कारण पूछा। रघुनाथ बोले—'मेरे मन में बड़ी लालसा थी कि मेरा ग्रन्थ न्यायशास्त्र का श्रेष्ठतम ग्रन्थ माना जाय; किन्तु मेरी यशो-लालसा आज ध्वस्त हो गई। तुम्हारे इस ग्रन्थ के सामने मेरे ग्रन्थ को पूछेगा ही कौन।

'बस इतनी बात के लिये आप दुखी हो रहे हैं!' निमाई ने सहज भाव से अपने ग्रन्थ के पन्ने हाथ में उठाये और उन्हें गंगा के प्रवाह में विसर्जित करते हुए बोले—'आपको दुःख देने वाले इन पत्रों को रख कर मुझे करना भी क्या है?'

गंगा की लहरों पर लहराते हुए बहे जाते पत्रों को देखकर दो क्षण रघुनाथ स्तब्ध रह गये। कोई ग्रन्थकार अपने श्रेष्ठतम ग्रन्थ का इस प्रकार त्याग कर सकता है! फिर वे निमाई को भुजाओं में भर कर फूट पड़े। कितना जघन्य है मेरा स्वार्थ!

निमाई का न्याय का अध्ययन उसी दिन से छूट गया। 'दीधिति' के ग्रन्थकार जिसकी रचना से ईर्ष्या-क्षुब्ध हो उठे, उसे और कोई न्यायशास्त्र पढ़ाता भी क्या!

अध्यापन का प्रारम्भ

भारत का ब्राह्मण अब कैसा भी हो, उसकी परम्परा महान् है। उसका गौरव है—उसका त्याग एवं निस्पृहता। पण्डित श्री जगन्नाथ मिश्र अत्यन्त निस्पृह रहे थे। उनके देहावसान के पश्चात् घर में कोई सम्पत्ति नहीं थी। जो कुछ यत्किञ्चित् था भी, वह उनके और्ध्वदैहिक कृत्य में समाप्त हो गया था। शची माता तथा निमाई का निर्वाह अयाचित

उदार पुरुषों से प्राप्त सहायता पर ही निर्भर था। अतः, निमाई का ध्यान शीघ्र ही अध्यापन प्रारम्भ करने की ओर गया। उनका अपना घर इतना छोटा था कि उसमें पाठशाला नहीं चल सकती थी; किन्तु वे अध्यापन प्रारम्भ करना चाहते हैं, इस समाचार का प्रचार पर्याप्त था। उनकी प्रतिभा एवं योग्यता की ख्याति अध्ययन काल में ही हो चुकी थी। मुकुन्द संजय नाम के एक सम्पन्न व्यक्ति ने अपना चण्डी मण्डप उनकी पाठशाला के लिये दे दिया और अपने पुत्र के साथ स्वयं भी उनका छात्र बन गया। दूर-दूर से छात्र निमाई की पाठशाला में एकत्र होने लगे।

निमाई अत्यल्प वय के अध्यापक थे। उनके अनेक विद्यार्थी आयु में उनसे कहीं बड़े थे; किन्तु उनके छात्र उनका अत्यधिक सम्मान करते थे। निमाई का व्यवहार भी छात्रों के साथ गुरु-शिष्य जैसा न होकर मित्रों जैसा था। वे गंगा-स्नान के समय उनके साथ खुल कर जल-क्रीड़ा करते थे।

अपने उन्मुक्त स्वभाव तथा चपलता के कारण वे 'चंचल पण्डित' प्रख्यात हो गये थे। दूसरे विद्वान् उनकी प्रतिभा का सम्मान करते थे और उनकी चपलता से झिझकते भी थे।

दिग्विजयी का पराभव

वह युग दिग्विजय का था, वीर नरेश वाहिनी लेकर दिग्-विजय को निकलते थे तो लोकोत्तर विद्वान् अपनी प्रतिभा का महास्त्र लेकर। ऐसे ही अद्भुत विद्वानों में थे कश्मीर के पण्डित केशव भट्ट। उनकी वाणी काव्य, दर्शन, व्याकरण आदि सभी विषयों में अनवरुद्ध थी। कश्मीर से चल कर वे नवद्वीप पहुँचे थे। मार्ग के समस्त विद्या-केन्द्रों ने उन्हें जयपत्र

दे दिया था। काशी और मिथिला के महापंडित उनसे शास्त्रार्थ में पराजित हो चुके थे।

नवद्वीप में दिग्विजयी की शास्त्रार्थ घोषणा ने विद्वानों में एक आतंक व्याप्त कर दिया। निमाई से भी कोई नियमित शास्त्रार्थ नहीं हुआ। गंगातट पर सहज ही दिग्विजयी गये और वहां अकस्मात् निमाई मिल गये। आशुकवि दिग्विजयी ने निमाई के आग्रह पर धाराबद्ध श्लोकों में गंगा-स्तवन किया; किन्तु उनमें से एक श्लोक के गुण-दोष जब निमाई ने बताये, दिग्विजयी को प्रत्युत्तर सूझा ही नहीं। वे खिन्न लौटे और रात्रि भर के मनोमन्थन के पश्चात् उन्होंने निमाई के सम्मुख मस्तक ही झुका दिया, उनका अहंकार गल गया। निमाई के सत्संग ने उनकी यशोलिप्सा लुप्त कर दी, वे नवद्वीप से वृन्दावन लौट गये और वैष्णव हो गये।

गृहस्थ-जीवन—प्रथम विवाह

शची माता अपने निमाई के विवाह के लिये बहुत उत्सुक हों, यह स्वाभाविक था। बंगाल में घटक लोग ही वर-कन्या दोनों पक्षों में मध्यस्थता करके विवाह सम्बन्ध निश्चित कराते हैं। श्री बनवारी घटक के प्रयत्न से निमाई का प्रथम विवाह श्री बल्लभाचार्य की पुत्री श्रीमती लक्ष्मीदेवी से हुआ। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि ये बल्लभाचार्य निमाई के सजातीय गौड़ ब्राह्मण थे। पुष्टिमार्ग के प्रथमाचार्य श्री बल्लभाचार्य से तो संन्यास ग्रहण के पश्चात् निमाई प्रयाग में मिले थे।

लक्ष्मीदेवी जैसी पुत्रवधु पाकर शची माता बहुत ही प्रसन्न हुई। लेकिन गार्हस्थ्य स्वीकार करने के पश्चात् निमाई को घर की आर्थिक अवस्था का सुधार आवश्यक जान पड़ा।

द्वितीय विवाह

सभी कुछ था; किन्तु शची माता प्रसन्न नहीं थीं। उन्हें पुत्रवधू के बिना अपना घर सूना लगता था। गंगास्नान करने वे प्रायः जाती थीं। वहीं उन्होंने राजपण्डित सनातन मिश्र की कन्या विष्णुप्रिया को देखा और उस शील सौदर्यमयी बालिका को, अपनी पुत्रवधू बनाने का विचार उनके मन में जागृत हुआ।

राजपण्डित सनातन मिश्र धनाढ्य थे, सम्मानित थे। वे चाहते थे कि निमाई उनके जामाता बनें; किन्तु दिग्विजयी को पराजय देने के कारण निमाई को जो सम्मान मिला था, उसके कारण राजपण्डित प्रस्ताव भेजने का साहस नहीं कर पाते थे। शचीमाता ने ही काशीनाथ मिश्र घटक द्वारा राजपण्डित के पास प्रस्ताव भेजा कि वे अपनी कन्या निमाई को दे दें। प्रस्ताव सहर्ष स्वीकृत हो गया। माता के आदेश का पालन निमाई ने सदा किया था, इस बार भी उन्होंने उसे अस्वीकार नहीं किया।

निमाई का यह दूसरा विवाह बड़ी धूमधाम से हुआ। कन्या के पिता राजपण्डित थे और निमाई की ओर से विवाह का व्यय करने नवद्वीप के सब से बड़े जमींदार बुद्धिमन्त खां तथा मुकुन्द सञ्जय उद्यत हो गये। एक नरेश के कुमार के विवाह के समान उत्साह एवं साज-सज्जा से यह विवाह संपन्न हुआ।

विष्णुप्रिया ने प्राणपण से अपने को अपने लोकपूज्य पति तथा शचीमाता की सेवा में समर्पित कर दिया, शचीमाता का स्नेह भी पुत्रवधू को पाकर उमड़ पड़ा था।

प्रकृति-परिवर्तन

इस विवाह के कुछ ही दिन पीछे निमाई में एक विचित्र परिवर्तन हुआ। वे मार्ग में जाते जाते पुस्तकें फेंक कर भागने और घर आकर बर्तनों को आँगन में निकाल कर फेंकने लगे। बड़ी कठिनाई से लोगों ने इन्हें पकड़ कर शय्या पर सुलाया।

यह निमाई का प्रथम आवेश था। वे कह रहे थे अपने आवेश में—'श्रीकृष्ण नाम ही सार है। सब वस्तुएँ असार हैं। पदार्थ का मोह छोड़ो और श्रीकृष्ण का कीर्तन करो।'

चिकित्सकों ने वातव्याधि समझी। अन्धविश्वासी लोगों को प्रेतबाधा जान पड़ी। माता ने यह सब किया जो लोगों ने बताया, किन्तु निमाई में जो परिवर्तन हुआ था, उसे समझ कौन सकता था ?

बाह्य रूप में निमाई अब गंभीर हो गये थे, लोगों को चिढ़ाना, छेड़ना, वाद-विवाद करना उन्होंने त्याग दिया था। नियमित रूप से ठाकुर-पूजा, तुलसी-पूजन तथा सन्ध्या-वन्दन करने लगे थे। स्वयं तिलक धारण करते, विद्यार्थियों को प्रेरणा देते और वैष्णवों के प्रति अत्यधिक विनयपूर्ण हो गये थे।

गया-यात्रा

श्री निमाई के मौसा पं० चन्द्रशेखर आचार्यरत्न गया की यात्रा करना चाहते थे। उनकी इच्छा का पता लगा तो निमाई बहुत प्रसन्न हुए। माता की आज्ञा लेकर ये भी कुछ छात्रों एवं स्नेहियों के साथ यात्रा को उद्यत हो गये। आश्विन शुक्ल दशमी को यह यात्रा प्रारम्भ हुई।

मार्ग में मन्दार नामक स्थान में निमाई को ज्वर आ गया। जब अनेक उपचार करने पर भी रोग नहीं गया तो सभी लोग चिन्तित हो उठे, किन्तु स्वयं रोगी ने अपनी औषधि बताई। उसे पीकर निमाई स्वस्थ हो गये।

गया पितृश्राद्ध का तीर्थ है। पितृतर्पण एवं पिण्डदान करने ही दूर दूर के यात्री वहाँ पहुँचते हैं। पुन पुन नदी के स्नान एवं तर्पण-श्राद्धदि से प्रारम्भ करके गया के सभी ब्रह्मण्कुडादि तीर्थों के शास्त्रविहित कृत्य पूरे किये गये।

श्रीगौराङ्ग जब चक्र बेड़ा के भीतर विष्णुपद के दर्शन करने पहुँचे तो पदचिह्नों के दर्शन करते ही उनकी अद्भुत अवस्था हो गई। शरीर थर थर काँपने लगा, नेत्रों से अश्रु-धारा चल पड़ी। मूर्छित हो कर वे गिरने ही वाले थे कि एक तेजस्वी संन्यासी ने सहारा देकर सम्हाल लिया। साथियों ने उन्हें मन्दिर से बाहर निकाला और भीड़ से दूर ले गये।

मन्त्र-दीक्षा

भीड़ से बाहर पहुँचकर निमाई को कुछ देर में शरीर का ज्ञान हुआ। उन्होंने संन्यासी को देखा, जिसने उन्हें मन्दिर में सहारा दिया था। ये संन्यासी श्री ईश्वरपुरी थे, संन्यासियों में भक्ति धारा के उस समय के उद्गम स्वरूप श्री माधवेन्द्र पुरी के मुख्य शिष्य। ये ईश्वरपुरी जा अद्वैताचार्य के गुरु थे। नवद्वीप में निमाई पण्डित का आतिथ्य इससे पहिले एक बार ये ग्रहण कर चुके थे। आज गया में निमाई में प्रेम के अनेक सात्विक भाव संपन्न विकारों का उदय देखकर इन्हें बहुत प्रसन्नता हुई।

श्री ईश्वरपुरी को समीप देख कर निमाई ने उनके चरण

पकड़ लिये। भावप्राण इन दोनों महापुरुषों का परस्पर मिलन जिन्होंने देखा, धन्य हो गये वे। अन्ततः, पुरी महाशय की आज्ञा लेकर निमाई अपने स्थान पर चले गये।

गया तीर्थ विधिवत् किया जाय तो पूरे आठ दिन लगते हैं और उसमें भी लगभग सात-आठ घण्टे प्रतिदिन चलना तथा तीर्थकर्म करना पड़ता है। जो इतना श्रम नहीं उठा सकते, वे पन्द्रह दिन में गया का श्राद्ध कृत्य पूर्ण करते हैं। प्रेत गया, राम गया, युधिष्ठिर गया, शिव गया, बुद्ध गया आदि सोलह गया तीर्थ गया क्षेत्र में हैं। इनके अतिरिक्त मुण्डपृष्ठ, आम्र सेचनादि अनेक स्थल हैं। इन सब के जो भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन्हें निमाई के साथ गौड़ीय यात्रियों ने भली प्रकार सपन्न किया।

एक दिन जब निमाई भोजन बना रहे थे, ईश्वरपुरी अकस्मात् उनके डेरे पर आ पहुँचे। गौर ने अतिशय आग्रह पूर्वक 'पुरी' को भिक्षा करायी और जब वे भिक्षा कर चुके तो प्रार्थना की कि मन्त्रदीक्षा देने का अनुग्रह वे अवश्य करें। निमाई के विनीत किन्तु दृढ़ अनुरोध को टाल देना कठिन था। उसी समय दीक्षा की तिथि निश्चित हो गई।

नियत तिथि पर पुरी महाशय आ गये, दीक्षा की सब आवश्यक सामग्री प्रस्तुत थी। पूजनादि के अनन्तर ईश्वर पुरी ने निमाई को दशाक्षर श्रीकृष्ण मन्त्र की दीक्षा दी। यह साधारण 'कान फूंकना' नहीं था। शास्त्र कहता है कि दीक्षा साधक का दूसरा जन्म है। उसकी हृदय भूमि में आचार्य अपनी साधन शक्ति से एक साधनमय जीवन का बीज वपन करता है। इसी लिये इसे 'शक्तिपात' भी कहते हैं। ईश्वर पुरी जैसे योग्यतम आचार्य और निमाई जैसे श्रेष्ठ पात्र, दीक्षा

के साथ मंत्र-श्रवण मात्र से निमाई मूर्छित हो गये। दिव्य प्रेम का उनमें प्रादुर्भाव हो गया। चेतना में आने पर भी वे दिव्य उन्माद में मत्त रहे। अश्रु, स्वेद, कम्प, प्रलाप, मूर्छादि भावविकार जैसे निमाई में उसी क्षण स्थिर रूप से मूर्तिमान् हो गये।

निमाई पण्डित को दीक्षा देकर ईश्वरपुरी कहाँ-किधर चले गये, इसका किसी को फिर कभी पता नहीं लगा। निमाई की विचित्र अवस्था हो गई थी। वे 'हा कृष्ण! हा प्राणधन! तुम कहाँ हो? किधर चले गये!' इस प्रकार आर्त क्रन्दन कर रहे थे। रातें भी उनकी रुदन करते बीततीं।

गौराङ्ग की यह अद्‌भुत अवस्था देख कर उनके साथियों को गया मे अधिक रुकना उचित नहीं प्रतीत हुआ। वे लोग बड़ी सावधानी के साथ निमाई को सम्हालते हुए नवद्वीप को चल पड़े।

पाठशाला की परिसमाप्ति

निमाई किसी प्रकार नवद्वीप पहुँचे, किन्तु प्रेमोन्माद तो अब चिर सहचर हो गया था। नवद्वीप में जो वैष्णव विद्वान् थे, उन्हें इस समाचार से हर्ष हुआ। मुरारिगुप्त, श्रीवास पण्डित, शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी, गदाधर पण्डित, नीलाम्बर चक्रवर्ती आदि इनके समीप शीघ्र आ गये और वे आये सो सदा के लिये गौर के परिकर बन गये।

निमाई के विद्यागुरु श्री गंगादास जी ने उन्हें दो वार आदेश दिया कि अब वे अध्यापन कार्य करें। उनका आदेश निमाई ने स्वीकार किया, किन्तु जिसे प्रत्येक ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति

का अर्थ श्रीकृष्णप्रेम ही दीखता हो, वह अध्यापन कैसे करेगा।

प्रयत्न करके भी निमाई अध्यापक नहीं रह सके। छात्रों ने उन्हें आग्रह पूर्वक पाठशाला में बिठा दिया तो वे छात्रों से कृष्णकीर्तन करने के लिये अनुनय करने लगे। पाठशाला संकीर्तन भवन बन गई। अन्ततः, कीर्तन कराके निमाई ने पाठशाला समाप्त कर दो। बड़े दुःख से छात्रों को अपने इन परमप्रिय अध्यापक से पृथक् होना पड़ा। एक पाठशाला विश्व-शिक्षक को भला कब तक बाँधे रह सकती थी।

हरिनाम की धूम

नवद्वीप में निमाई पण्डित की नवीन दशा की सर्वत्र चर्चा होने लगी। जितने मुख उतनी बातें। कोई उन्माद बतलाता, कोई वायुरोग तथा कोई और कुछ। लेकिन भक्तवृन्द सन्देह-रहित था। जैसे जैसे भक्तों का समुदाय एकत्र होने लगा, निमाई नाम के स्थान पर 'गौर' या 'गौराङ्ग' नाम अधिक सम्मानित होने लगा।

श्रीवास पण्डित जो निमाई के पिता के मित्र थे, प्रमुख रूप से पहिले गौर की ओर आकृष्ट हुए। अद्वैताचार्य भो शीघ्र ही भक्तों के मध्य आ बैठे। श्रीवास पण्डित के घर रात्रि में गौर का संकीर्तन प्रारम्भ हो गया। यह संकीर्तन पहिले द्वार बन्द करके होता था और उसमें चुने हुए अधिकारी जनों को ही सम्मिलित होने दिया जाता था।

इसी समय अवधूत नित्यानन्द जी नवद्वीप पधारे। गौर की जैसे दूसरी मूर्ति—मिलते ही गौराङ्ग ने उन्हें अपना बड़ा भाई बना लिया और फिर 'निमाई-निताई' का जोड़ा भक्तों

का आराध्य हो गया। नित्यानन्द जी श्रीवास पण्डित के घर ही रहने लगे।

श्री गौर के आकर्षण ने दूसरे सभी भावप्राण व्यक्तियों को आकृष्ट किया, धीरे धीरे परिकरों की संख्या बढ़ने लगी। पुंडरीक विद्यानिधि जैसे विद्वान् तथा यवन हरिदास जैसे त्यागी, तितिक्षु एवं नामजापक श्री गौर के सान्निध्य में आकर धन्य हुए। अनेक बार श्रीगौराङ्ग में भावावेश होता था और उनके शरीर में भक्तों को अपनी भावना के अनुसार अपने आराध्य के दर्शन होते थे। श्री गौर ने विद्वान्-अपठित, धनी-निर्धन में भेद नहीं रखा। श्रीधर जैसे अकिञ्चन वैष्णवभक्त को उन्होंने स्वयं बुलवाया और परिकरों में स्थान दिया।

श्रीवास पण्डित के घर के भीतर कीर्तन का क्रम देर तक नहीं चल सकता था। श्री गौर को तो सम्पूर्ण समाज में नाम प्रचार करना था। साथ ही बन्द घर में कीर्तन होने से अनेक लोगों में जो यह भ्रम बढ़ता जा रहा था कि कदाचित् कोई तान्त्रिक उपासना वहाँ होती हो, उसे भी दूर करना था। अतः, गौराङ्ग ने नित्यानन्द जी तथा हरिदास जी को नगर में भगवन्नामप्रचार करने को प्रस्तुत किया।

जगाई-मधाई-उद्धार

गौड़ नरेश की ओर से नवद्वीप के कोतवाल नियुक्त हुए थे जगन्नाथ तथा माधव नाम के दो ब्राह्मण। ये सगे भाई थे। इनके साथ थोड़े से सैनिक भी रहते थे। दोनों एक स्थान पर तम्बू डाल कर दस-पन्द्रह दिन रहते और फिर दूसरे मुहल्ले में इनका पड़ाव रहता। घोर शराबी, अत्यन्त क्रूर और निर्दय

उत्पाती थे ये दोनों। अकारण पीटना, लूटना और चाहे जिसकी बहू-बेटी का अपहरण कर लेना साधारण बात थी इनके लिये। पूरा नवद्वीप इन असुरों के आतङ्क से काँपता था।

नाम-प्रचार को निकले नित्यानन्द जी तो उन्हें यह सबसे उचित लगा कि जो अधिक गिरे है, वे उद्धारक की दया के अधिक पात्र हैं। अतः हरिदास जी को लिये वे जगाई-मधाई के शिविर की ओर ही पहुँच गये। पहिले दिन जब इन दोनों भाइयों में रोष जागा तो कौतुकी नित्यानन्द जी भाग खड़े हुए; किन्तु दूसरे दिन फिर पहुँच गये।

'भाई, हरिनाम लो!' नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते अवधूत के सिर पर मधाई ने मिट्टी का बर्तन पटक दिया। नित्यानंद जी के सिर से रक्त की धारा चलने लगी, वह दूसरा प्रहार भी करता; किन्तु जगाई ने उसे रोक दिया। यह समाचार मिलते ही श्री गौर दौड़े। पूरी भक्तमण्डली आवेश में आ गई। गौराङ्ग तथा भक्तों की भीड़ देख कर जगाई-मधाई का नशा हिरन हो गया। वे डर गये; किन्तु नित्यानन्द जी भक्तों तथा निमाई से कातर अनुरोध कर रहे थे कि इन अज्ञानी जनों को क्षमा किया जाय।

नित्यानन्द जी की क्षमा, गौराङ्ग का तेज और अपने अपराध के अनुभव ने जगाई-मधाई को उसी दिन बदल दिया। वे पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगे। नित्यानन्द जी के अनुरोध पर श्री गौर ने उन्हें हृदय से लगाया। दोनों भाइयों का जीवन ही परिवर्तित हो गया। ये श्रीवास पण्डित के घर आ गये और दो लक्ष नामजप प्रतिदिन करने लगे। मधाई ने तो पीछे अपने हाथ से गंगा का एक घाट बनाया और वहीं

कुटिया बना कर रहने लगा। वह प्रत्येक स्नानार्थी के पैरों में पड़कर अपने अपराध की क्षमा माँगता था।

काजी झुका

श्री गौराङ्ग की प्रेरणा से नवद्वीप में संकीर्तन का प्रचार बढ़ चला। अनेक स्थानों पर लोगों ने मंडलियां बना लीं और खोल-करताल बजा कर कीर्तन करने लगे। दूसरी ओर कीर्तन के विरोधी भी बढ़ने लगे। अनेक लोग श्री गौराङ्ग की निन्दा करते और उन्हें अपयश देने का मार्ग ढूँढते। ऐसे लोगों ने काजी चाँदखाँ के कान भरने प्रारम्भ किये।

'यह नया धर्म है। यह अधर्म है। ये लोग रात को हुल्लड़ करके दूसरों को सोने नहीं देते।' इस प्रकार की अनेक बातें सुनते सुनते काजी उत्तेजित हो गया। उसने पास के कीर्तन करने वालों को सेवकों द्वारा मना किया और जब कई बार रोकने का कुछ फल न हुआ तो एक घर में स्वयं घुस कर सबको कारागार भेज देने की धमकी दी।

काजी की धमकी से नवद्वीप में आतङ्क फैल गया। चर्चा यहाँ तक उठी कि गौड़ से श्री गौर को पकड़ने सेना आ रही है। इस आतंक को समाप्त करने श्री गौराङ्ग प्रस्तुत हुए। उन्होंने सकीर्तन-जलूस निकाला और कोर्तन करते काजीपाड़ा की ओर चल पड़े।

सहस्रों कण्ठों की कीर्तन-ध्वनि सुन कर काजी डर गया। उसे किसी ने कह दिया कि श्री गौर उसे पकड़ने आ रहे हैं। वह अपने भवन में द्वार बन्द करके छिप गया। अन्त में श्री गौर के आश्वासन देने पर मिलने आया। मुहल्ले का सम्बन्ध मान कर गौर को उसने भानजा कहा। कीर्तन का

विरोध करने की बात ही समाप्त हो गई प्रशासन द्वारा उसी दिन से। काजी ने सत्कार करके गौर को विदा किया।

संन्यास और पुरी-निवास

जगाई-मधाई के उद्धार तथा नगर-काजी के शरणागमन ने गौराङ्ग की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव को बहुत व्यापक बना दिया। अब कीर्तन का प्रचार पर्याप्त गति पा चुका था। विरोध करने वाले या तो अनुकूल हो गये, अथवा उन्होंने मौन रहना ही बुद्धिमत्ता समझा।

यह सब हुआ; किन्तु स्वयं श्रीगौराङ्ग का चित्त प्रसन्न नहीं था। वे बहुत अधिक गम्भीर रहने लगे थे। प्राणियों के उद्धार की सच्ची पीड़ा उनके हृदय में थी और श्रीकृष्णप्रेम की उनकी अभीप्सा की तुलना तो लोक में सम्भव ही नहीं है।

भगवन्नाम में सम्पूर्ण आस्था रखते हुए भी गौर सदाचार, त्याग, इन्द्रियजय के परम समर्थक थे। जब तक सांसारिक भोगों से सम्यक् वैराग्य नहीं होता, श्रीकृष्ण प्रेम दुर्लभ है। यह उनकी मान्यता थी। लोक में त्याग-वैराग्य की बात करना किसी त्यागी को ही शोभा देता है। अतः, निमाई ने गृह-त्याग कर संन्यास लेने का निश्चय किया।

किसी दिन कुमार सिद्धार्थ (गौतमबुद्ध) ने भी पिता का राज्य एवं पत्नी-पुत्र को छोड़ा था नीरव-रात्रि में। निमाई का त्याग उससे किसी प्रकार कम नहीं था। स्नेहमयी माता, सम्पत्ति से भरा घर, युवती, परम सुन्दरी, पतिप्राणा पत्नी और दिगन्त-व्यापी सुयश—नीरव रात्रि में ही निमाई भी तथागत की ही भाँति सोती हुई पत्नी को छोड़कर चुपचाप घर से निकले और माघ की सर्दी में तैर कर उन्होंने गंगा को पार किया।

गंगा पार कटवा ग्राम में केशव भारती से निमाई ने संन्यास ग्रहण किया। सुगन्धि-सिञ्चित घुँघराले काले केश विदा हुए। मुडित मस्तक गैरिक वस्त्रधारी निमाई अब निमाई नहीं रहे। उनका संन्यास का नाम श्रीकृष्ण चैतन्य भारती पड़ा। भक्तगण सम्मानपूर्वक उन्हें चैतन्य महाप्रभु कहते हैं।

'हा प्राणधन ! हा श्रीकृष्ण ! यशोदानन्दन ! तुम कहाँ हो ? किधर है वृन्दावन ?' संन्यास के विधि-विधान पूरे होते ही श्री चैतन्य उन्मत्त की भाँति भाग चले। उन्हे शरीर का पता नहीं था। वृक्ष, पशु, ग्रामीण जन—चाहे जिससे वृन्दावन का मार्ग पूछते वे इधर-उधर दौड़ते-भटकते चले जा रहे थे।

उधर नवद्वीप में अपने कक्ष में प्राणप्रिय पतिदेव को न पाकर पहले श्रीविष्णुप्रिया ही चीत्कार करके उठी और मूर्छित हो गई थीं। वत्सहीना गौ की दशा हो गई शची माता की। समाचार नगर में दावानल की भाँति फैला। भक्तों के समुदाय में हाहाकार मचा, लोगों में भाग दौड़ पड़ी। कुछ लोग कटवा पहुंच भी गये; किन्तु अपने निश्चय से गौर को हटाने में कोई समर्थ नहीं हुआ था।

माता का सम्मान

जब श्रीचैतन्य उन्मत्त की भाँति दौड़ने लगे, तब कुछ लोगों ने उनका अनुसरण किया और किसी प्रकार उन्हें शाँतिपुर में श्री अद्वैताचार्य के घर ले आये। यहीं शचीमाता आ गईं। अपने प्राण के समान पुत्र को संन्यासी वेश में देखकर माता को कितनी वेदना हुई, कैसे लिखा जाय। संन्यासी पुत्र ने माता के चरणों में मस्तक रख कर उन्हें प्रणाम किया।

श्री गौराङ्ग माता का अत्यधिक सम्मान करते थे। माता का आदेश वे कभी टालते नहीं थे। माता के शांतिपुर आ जाने पर उन्हें बड़ा संकोच हुआ। उन्होंने कह दिया—'माँ जैसे भी प्रसन्न हों, मुझे वह सब स्वीकार है। वे जहाँ रहने को कहें, जैसे रहने को कहें, मैं उनकी आज्ञा का पालन करूँगा।

लेकिन जगन्माता शची, अन्ततः, चैतन्य की जननी थीं। उन्होंने कहा—'निमाई ने जब संन्यास ले ही लिया तो उसे घर लौटने की बात मेरे मुख पर नही आ सकती। मैं उसे धर्मच्युत नहीं करूँगी।

श्री चैतन्य वृन्दावन के लिये पागल थे। उनके प्राण व्रजवास को अत्यन्त उत्सुक थे; किन्तु माता ने कहा—'बेटा! तेरा नवद्वीप या शांतिपुर रहना हम सबको प्रिय है; किन्तु यह भी तेरे संन्यास के लिये दूषण ही होगा। तू बहुत दूर जायगा तो मेरे प्राण तेरे समाचार पाने को छटपटायेगे। तू श्री जगन्नाथ पुरी में रह। गौड़ के भक्त जब वहाँ आते जाते रहेंगे। तेरा समाचार मुझे मिलता रहेगा।' माता का यह आदेश स्वीकार करके चैतन्यदेव पुरी पधारे।

श्री नित्यानन्द जो तथा अनेक अनन्य भक्त जन उनके साथ पुरी आये थे। श्री नित्यानन्द जो ने चैतन्य का संन्यास-दण्ड मार्ग में ही तोड़-ताड़ कर फेंक दिया था। पुरी में श्री गोपीनाथ आचार्य श्री गौराङ्ग की कीर्ति से परिचित थे और सम्बन्धी भी लगते थे। उन्होंने निवास की व्यवस्था कर दी। शीघ्र ही राजगुरु आचार्य वासुदेव सार्वभौम भी श्री चैतन्य के लोकोत्तर प्रभाव को देखकर उनके अनुगत हो गये।

दक्षिण भारत की यात्रा

बहुत थोड़े समय पुरी में रहने के पश्चात् श्रीचैतन्य ने दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा का विचार किया। उन्होंने अपने परिकरों में किसी को भी साथ ले जाना स्वीकार नहीं किया, किन्तु श्री नित्यानन्द जी के आग्रह को मान कर कृष्णदास नामक एक सेवक को साथ ले लिया।

आचार्य वासुदेव सार्वभौम के आग्रह वश श्री चैतन्य इस यात्रा में पहिले गोदावरी तट पर बसे विद्यानगर में गये और वहाँ के शासक राजा रामानन्द राय से मिले। राय रामानन्द उड़ीसा नरेश प्रतापरुद्र के मुख्य कर्मचारी श्री भवानन्द जी के पुत्र थे। ये भक्तिशास्त्र के गम्भीर विद्वान् एवं भक्त पुरुष थे।

श्री चैतन्य से मिल कर राय रामानन्द तो उन के हो ही गये, श्री चैतन्य का भी उन पर बहुत स्नेह था। इस तीर्थ-यात्रा से लौटते समय वे राय रामानन्द को साथ लेने ही पुनः विद्यानगर आये। यद्यपि श्री रामानन्द साथ नहीं आ सके, किन्तु वे तत्काल अपना कार्यभार समेटने में लग गये और शीघ्र ही विद्यानगर छोड़ कर जगन्नाथ पुरी में श्री चैतन्य के सान्निध्य में रहने के लिये पहुँच गये।

कुष्ठी से प्रेम

नीलाचल (जगन्नाथ पुरी) से चल कर श्री गौराङ्ग श्री कूर्मम् (कूर्माचलम्) पहुँचे थे। वहाँ उन्हें वासुदेव नामक एक ब्राह्मण मिला, जिस के सर्वांग में गलित कुष्ठ के घाव थे। वह भगवद्भक्त, संतसेवी और भजन-निष्ठ था। श्री चैतन्य स्वयं उसके समीप गये और कुष्ठी के रोकने पर भी उन्हों ने उसे बल पूर्वक उठा कर हृदय से लगा लिया।

वेश्याओं तथा तीर्थराम को उपदेश

कुष्ठी से प्रेमप्रदर्शन एवं राय रामानन्द के साथ भक्ति चर्चा करके श्री चैतन्य तीर्थाटन करते श्रीरङ्गम् जा रहे थे। मार्ग में अक्षयवट नामक स्थान मिला। इस स्थान पर तीर्थराम नामक एक संपन्न पुरुष रहता था। वह अत्यन्त विलासी था। उसने दो वेश्याएं रख छोड़ी थीं। वीतराग परम सुन्दर श्री चैतन्य को उसने देखा तो उसके चित्त में एक विनोद सूझा—'इस सधुकड़े को छकाना चाहिये!' भोगरत, खल व्यक्ति के लिये ऐसी बात सोच लेना कोई असम्भाव्य वस्तु नहीं थी। उसने अपनी रखेल दोनों वेश्याओं को प्रेरित किया कि वे इस युवा साधु को अपने रूप के आकर्षण में उलझावें।

एकान्त में एकाकी वृक्ष के नीचे पड़े श्रीगौर अपने आप कीर्तन कर रहे ये। साज-श्रृंगार करके वेश्यायें पास पहुँची और उन्होंने कटाक्ष करते, विलास पूर्वक प्रणाम किया, देर तक वे बैठी रहीं, किन्तु चैतन्य को तो शरीर का ही पता नहीं था, समीप कोई बैठा है, यह वे कैसे समझते। अन्त मे वैश्यायें बोलीं—'बाबा, हम आप की सेवा में आई हैं!'

चैतन्य ने नेत्र खोले। नम्रता पूर्वक प्रणाम करके बोले—'माताओ, आपका शिशु क्या सेवा कर सकता है?' वह मधुर वाणी, सम्बोधन तथा अन्तर्वेधिनी दृष्टि—वेश्याओं का गर्व गल गया, और गर्व गल गया वृक्ष के पीछे छिप कर देखने वाले तीर्थराम का। धन्य दिन था आज उनके जीवन का। पश्चात्ताप की अग्नि ने उनके कलुष धो दिये। श्री चैतन्य की कृपा उन्हे प्राप्त हुई। उनकी जीवनधारा परिवर्तित हो गई। अब वे तितिक्षा, त्याग, सेवा और भगवद्भजन के आदर्श बन चुके थे।

डाकू साधु बना

श्री रङ्गम, मदुरा, कन्याकुमारी, उडूपी आदि होते श्री चैतन्य पण्ढरपुर पहुँचे। इसी यात्रा में उन्हें पता लगा कि उनके अग्रज विश्वरूप का संन्यास का नाम श्री शंकरारण्य था और पंढरपुर क्षेत्र में उन्होंने देहत्याग किया था। पण्ढरपुर से श्रीकृष्णकर्णामृत और ब्रह्मसंहिता ये दो ग्रन्थ श्री गौराङ्ग अपने साथ ले आये थे।

इस यात्रा में जाजूर के खण्डोबा क्षेत्र से आगे बढ़ने पर चोरानन्दी वन पड़ता था। इस वन में नौरोजी नामक एक बड़े दुर्दान्त दस्यु का अड्डा था। उस का दूर दूर तक आतङ्क था। लेकिन जब श्री चैतन्य उस वन में पहुँचे तो उनके दर्शन मात्र से नौरो जी का उग्र स्वभाव लुप्त हो गया। उसने बड़ी विनम्रता पूर्वक भिक्षा करने की प्रार्थना की और श्री गौर को भोजन कराया। फिर उनके उपदेश से तत्काल ही उसने अपने शस्त्र फेंक दिये। दूसरे ही दिन दल का विसर्जन करके वह श्री गौर के साथ हो गया। यात्रा में वह श्री चैतन्य के साथ रहा। कुछ काल के बाद इसी यात्रा में उनके सामने ही बड़ौदा में उसका शरीर छूट गया। अपने हाथों चैतन्य ने उसके देह को समाधि दी।

नीलाचल-आगमन

गुजरात के तीर्थों की यात्रा करते द्वारिकाधाम, सोम-नाथ आदि की यात्रा श्री गौराङ्ग ने पूर्ण की और फिर विद्यानगर में राय रामानन्द से मिलते हुए श्री जगन्नाथ पुरी लौट आये।

श्री चैतन्य तीर्थयात्रा से नीलाचल लौट आए हैं, यह

समाचार शीघ्र बंगाल पहुँच गया। वहाँ के भक्तों ने भी आषाढ़ शुक्ल द्वितीया के रथयात्रा-महोत्सव पर पुरी रहने का आयोजन किया। बंगाल की श्री चैतन्य की भक्तमण्डली बड़े उत्साह से श्री जगन्नाथधाम आई।

जगन्नाथ पुरी में भक्तों के साथ

श्री चैतन्य पुरी में १८ वर्ष रहे। इसमें से १२ वर्ष तो उनका गम्भीरा मन्दिर में दिव्योन्माद में बीता। प्रथम ६ वर्षों में उन्होंने तीन यात्रायें कीं। १. दक्षिण भारत की यात्रा २. गौड़ की यात्रा और ३. वृन्दावन की यात्रा। इन यात्राओं में जो समय लगा, उसे छोड़ कर शेष समय वे पुरी में भक्तों के साथ रहे और उनका मार्गदर्शन करते रहे।

श्रीगौर पुरी में जिस भवन में ठहरे थे, वह राजपुरोहित श्री काशीमिश्र जी का था। दक्षिण यात्रा से लौटने पर चैतन्य का काशीमिश्र से परिचय हुआ और फिर मिश्र जी उनके अनन्य भक्त हो गये। इसी प्रकार राय रामानन्द के पिता राजा भवानन्द जी भी अपने चारों पुत्रों के साथ दर्शनार्थ पधारे और उन्होंने अपने छोटे पुत्र श्री वाणीनाथ को महाप्रभु की सेवा में नियुक्त कर दिया।

श्री परमानन्द पुरी चैतन्य के मन्त्रगुरु श्री ईश्वरपुरी जी के गुरु भाई थे, वे दक्षिण यात्रा में महाप्रभु से मिले थे। नवद्वीप होते वे भी पुरी आ गये और उन्हें प्रभु ने सादर अपने समीप की कुटी में स्थान दिया।

नवद्वीप के पुरुषोत्तमाचार्य प्रभु के अन्तरंग थे। गौर के संन्यास लेने पर वे काशी चले गये थे और वहाँ उन्होंने संन्यास ले लिया था। उनका संन्यास का नाम स्वरूप था।

चैतन्य ने पुरी आने पर उनके नाम में दामोदर जोड़ दिया। वे स्वरूपदामोदर जी पुरी में श्री चैतन्य की सेवा के मुख्य व्यवस्थापक थे। १२ वर्ष की दिव्योन्माद की अवस्था में ये छाया की भाँति चैतन्य के साथ रहे और रात्रि में भी उनका सिर गोद में रख कर सोते थे। इनके 'कड़चे' (दैनन्दिनी) के आधार पर ही श्री चैतन्य की उस दिव्य अवस्था का परिचय लोगों को मिला।

श्रीचैतन्य के सेवकों में जो दूसरे मुख्य व्यक्ति आये वे थे गोविन्द। वे श्री ईश्वरपुरी जी के भृत्य थे और पुरी महोदय का देहावसान होने पर महाप्रभु की सेवा में आ गये थे। पुरी जी ने उन्हें महाप्रभु की सेवा का आदेश दिया था। माता के समान स्नेह से ये श्रीगौर की सेवा करते रहे।

गौड़ से आये भक्तों के साथ

गौड़ से रथयात्रा के अवसर पर श्री अद्वैताचार्य, श्रीवास, मुकुन्ददत्त, हरिदास जी आदि भक्त पधारे थे। महाप्रभु के दर्शन करके सब को ही अत्यन्त आनन्द हुआ। इनमें से श्री हरिदास जी को तो प्रभु ने ढूंढा और उनको बलपूर्वक हृदय से लगाया। उन्हें ले जा कर एकान्त कुटी दी और फिर उन्हें पुरी से जाने नहीं दिया। श्री हरिदास जी अत्यन्त विनम्र थे। अपना यवन देह किसी को छू न जाय, इस भावना से वे दूर दूर रहते थे और केवल श्री जगन्नाथ मन्दिर के चक्र का दूर से दर्शन कर लेते थे। महाप्रभु उनका आलिंगन करते थे तो उन्हें बड़ा संकोच होता था।

रथयात्रा से पूर्व गुण्टीचा का उद्यान-मन्दिर स्वच्छ किया जाता है। मंदिर में देवदर्शन ही पर्याप्त नहीं है। देवदर्शन

का पुण्य है मन्दिर की स्वच्छता तथा शान्ति को बनाये रखने तथा इनमें सहयोग देने में। यह ग्रादर्श स्थापित करने के लिए स्वयं श्रीगौराङ्ग ग्रपने गौड़ के समस्त भक्तों के साथ गुण्टीचा मन्दिर स्वच्छ करने गये।

मन्दिर के ग्रासपास जमी घास उखाड़ी गयी। कूड़ा एकत्र करके दूर फेंका गया। पूरा मन्दिर धोया गया। स्वयं महाप्रभु ने कूड़ा फेंका ग्रौर इतना फेंका कि उनका ढेर सब से बड़ा था। मन्दिर धोने को जलभरे कलश वे लाते रहे। जब मन्दिर स्वच्छ हो गया, तब सब ने मिल वहाँ देर तक संकीर्तन किया, जैसे श्री जगन्नाथ जी के पधारने से पूर्व मन्दिर के वातावरण की भौतिक ग्रौर ग्राधिदैविक दोनों स्वच्छता सम्यक् पूर्ण की गईं।

× × ×

रथयात्रा उत्सव के समय महाप्रभु ने ग्रपने भक्तों की सात संकीर्तन मडलियां बनाई थीं। उनके मुख्य गायक नियत किये थे ग्रौर स्वयं रथ के ग्रागे ग्रागे उद्दाम कीर्तन करते हुए एक से दूसरी मण्डली में पहुँचते रहते थे। थोड़ी देर बाद ये सब मंडलियाँ एक हो कर श्रीचैतन्य को मध्य में लेकर कीर्तन करती चलने लगीं।

इस प्रकार रथयात्रा महोत्सव बड़े उत्साह से संपन्न हुग्रा, ग्रनेक बार श्रीजगन्नाथ का रथ रुक जाया करता था ग्रौर प्राय: महाप्रभु जब उसे पीछे से ठेलते थे, शब्द के साथ रथ चलने लगता था।

महाराज प्रतापरुद्र (उत्कल नरेश) बहुत उत्सुक थे समीप से महाप्रभु का दर्शन करने के। श्रीनित्यानन्द जी तथा ग्राचार्य सार्वभौम तक ने श्रीचैतन्य से ग्राग्रह कर लिया था,

किन्तु उनका आग्रह स्वीकार नहीं हुआ था। परन्तु रथयात्रा में महाराज को अवकाश मिल गया। बलगण्डि स्थान पर श्रीचैतन्य पुष्प-वाटिका में विश्राम करने लगे। महाराज प्रतापरुद्र ने साधारण नागरिक जैसे कपड़े पहने और अकेले महाप्रभु के समीप जाकर उन के श्रीचरण दबाते हुए श्रीमद्भागवत के गोपिकागीत के श्लोकों का धीरे धीरे गान करने लगे। प्रभु भाव-विह्वल हो उठे और उन्होंने एक भगवद्भक्त बुद्धि से महाराज को हृदय से लगा लिया, क्योंकि महाराज से तो वे अपरिचित थे ही।

गौड़ के भक्त श्रीजगन्नाथ पुरी में इस प्रकार प्रत्येक वर्ष आते थे और वहां चार महीने निवास करते थे। चार वर्ष तक वे प्रतिवर्ष आते रहे। जब चौथी बार वे विदा होने लगे तो श्रीचैतन्य ने उन्हें अगले वर्ष आने के लिए यह कह कर मना कर दिया कि वे वृन्दावन की यात्रा पर जाने वाले हैं और गौड़ होते ही वृन्दावन जायँगे।

कुलीन ग्रामवासी प्रतिवर्ष श्रीजगन्नाथ के लिये पट्ट डोरी लाते थे और लौटते समय महाप्रभु से पूछते थे—'वैष्णव किसे कहते हैं?'

पहले वर्ष चैतन्य ने बताया—'जिसके मुख से एक बार श्रीभगवन्नाम का उच्चारण हो, वही वैष्णव है।'

दूसरे वर्ष उन्होंने कहा—'जो निरन्तर भगवन्नाम का उच्चारण करता रहे, वह वैष्णव।'

तीसरे वर्ष की परिभाषा थी—'वैष्णव वह जिसे देखते ही दूसरों के मुख से स्वतः भगवन्नाम उच्चरित होने लगे।'

वृन्दावन यात्रा

श्रीचैतन्य विजयादशमी के दिन पुरी से वृन्दावन जाने

के लिये चले। इस यात्रा में परमानन्द पुरी, स्वरूप दामोदर, जगदानन्द, मुकुन्द, गोविन्द आदि भक्त साथ थे।

महाप्रभु के गौड़ देश की सीमा में पहुँचते ही दूर दूर से भक्तजन उनके दर्शनार्थ आने लगे। शांतिपुर में माता शची देवी ने आकर ६ वर्ष से बिछुडे पुत्र का मुख देखा। परन्तु देवि विष्णुप्रिया कहाँ जायँ ? उनके आराध्य जब उन्हें सोती छोड़ गये, वह स्वयं ही पधारें तो दर्शन मिले।

महाप्रभु ने माता को दूसरे दिन ही नवद्वीप भेज दिया। शांतिपुर से वे कुलिया ग्राम गये। वहाँ से वे नौका द्वारा नवद्वीप आये। खड़ाऊँ पहिने पैदल वे अपने पितृगृह के सम्मुख आये और नीचा सिर किये द्वार के सामने खड़े हो गये, श्री विष्णुप्रिया जी ने यहीं आकर अपने आराध्य के चरणों में सिर रखा।

'मुझे जीवनयापन के लिये एक आधार चाहिये!' विष्णुप्रिया जी की इस प्रार्थना पर महाप्रभु ने अपनी खड़ाऊँ उन्हें दे दी और माता को प्रणाम करके लौट पड़े। माता मूर्छित हो कर गिर पड़ी, किन्तु वे घूमे नहीं। नवद्वीप में वे थोड़ी ही देर रहे।

श्री विष्णुप्रिया जी ने वेणी बाँधना, तैलाभ्यंगादि पहिले ही त्याग दिया था। वे एक समय भोजन करती थीं और वेदी पर सोती थीं। जीवन में अन्तिम बार उन्हें यह पतिदेव के दर्शन हुए थे। इसके बाद तो वे महातपस्विनी बन गई। कुछ काल पश्चात् जब शचीमाता का शरीर नहीं रहा, वे एकान्त वासिनी हो गई। 'हरे राम' महामन्त्र के पूरे १६ नाम लेकर एक चावल पात्र में डालती थीं। इस प्रकार प्रातः से तीसरे पहर तक जितने चावल एकत्र हो जायँ पात्र में उन्हें ही

रन्धन करके प्रसाद ग्रहण करती थीं। उन्होंने श्रीगौर की एक मूर्ति अपनी पूजा के लिये स्थापित कर रखी थी, अन्त में उस मूर्ति के सामने उनका शरीर छूट गया।

पुरी लौटना पड़ा

नवद्वीप से गंगा पार करके महाप्रभु बृन्दावन जाने की इच्छा से आगे बढ़े। उनके साथ बहुत भीड़ हो गई थी। संकीर्तन तथा जयघोष की तुमुल ध्वनि होती थी। इस प्रकार वे रामकेलि नगर पहुँचे। यह ग्राम उन दिनों गौड़ देश की राजधानी के समीप ही था। इसे अपने रहने के लिये रूप तथा सनातन ने बसाया था। ये दोनों भाई गौड़ नरेश के मंत्री थे। गौड़ के तत्कालीन बादशाह हुसैनशाह को कोलाहल सुन कर आशंका हुई। उस ने अपने मंत्री केशवसिंह को पहले भेजा और उनसे पाए समाचार से भी आश्वस्त न हो कर 'दबिरखास' तथा 'शाकिरलिलक' (रूप-सनातन) से पूछताछ करने लगा।

ये दोनों भाई रात्रि समय महाप्रभु के समीप उपस्थित हुए। इन्हों सम्मति दी—'बादशाह का भरोसा नहीं। इस युद्ध काल में इतनी भीड़ के साथ आप यात्रा न करें। अभी लौट जायँ और फिर कभी अकेले यात्रा करें।'

यह सम्मति मान कर महाप्रभु कन्हाई की नाट्य शाला होते शान्तिपुर में अद्वैताचार्य के घर लौट आये और वहाँ से पुरी लौटे।

पुनः वृन्दावन की ओर

पहिली यात्रा में लगभग ६-७ महीने लग गये, श्रीजगन्नाथ पुरी में वर्षाकाल व्यतीत करके श्रीचैतन्य वृन्दावन जाने को

उद्यत हुए। इस बार उन्होंने केवल बलभद्र भट्टाचार्य को साथ लिया। अब की बार राजपथ छोड़ कर झारखण्ड होते वे वृन्दावन की ओर चले। इस वनपथ में ग्राम दूर दूर मिलते थे। अनेक बार शाक या मूल फलों से काम चलाना पड़ता था। अनेक बार हिंस्र पशु मिलते थे, किन्तु श्रीचैतन्य का प्रेमोन्मत्त कीर्तन वन्य पशुओं तक को आनन्द विभोर कर देता था।

यात्रा करते हुये महाप्रभु काशी पहुँचे। यहीं उन्हें तपन मिश्र मिले, जो पूर्व परिचित थे। मिश्र जी आग्रहपूर्वक प्रभु को घर पर ले गये।

तीन दिन काशी रुक कर प्रयाग की ओर चल पड़े। प्रयाग में भी तीन ही दिन रुके और फिर यात्रा। इस प्रकार आप मथुरा पहुँच गये। व्रजभूमि के दर्शन करके चैतन्य की मनोभिलाषा पूर्ण हुई।

उस समय तक व्रज के बहुत से तीर्थस्थल लुप्त हो चुके थे। श्रीगौराङ्ग ने संन्यास लेने से पूर्व ही नवद्वीप से लोकनाथ गोस्वामी तथा भूगर्भ पण्डित को व्रज के लुप्त तीर्थों को प्रकट करने भेजा था। राधाकुण्ड की खोज तो स्वयं महाप्रभु ने की।

प्रत्यावर्तन

व्रज के तीर्थों की यात्रा करके उस भावभूमि से अनिच्छा पूर्वक ही श्रीचैतन्य लौट रहे थे। मार्ग में किसी गोप बालक की वंशीध्वनि सुन कर वे मूर्छित हो गये। संयोगवश कोई पठान राजकुमार अपने धर्मगुरु तथा सैनिकों के साथ उधर से जा रहा था। उसे सन्देह हुआ कि संन्यासी को उसके

साथियों ने विष दिया है। वह घोड़े से उतर पड़ा और अपने सैनिकों को कहने लगा—'इन विष देने वालों को मार दो!' लेकिन अनर्थ होने से बच गया। महाप्रभु की मूर्छा दूर हो गई। उन्होंने उस पठान को समझा दिया। महाप्रभु के दर्शन करके वह पठान राजकुमार प्रेमोन्मत्त हो गया। वह 'कृष्ण कृष्ण' कह कर नृत्य करने लगा। उस का नाम बिजलीखां था। महाप्रभु ने रामदास नाम दिया उसे। राजकुमार के धर्मगुरु तथा सैनिक भी उसी दिन वैष्णव हो गये। ये लोग 'पठान वैष्णव' के नाम से प्रख्यात हुए।

× × ×

गौड़ेश्वर के मंत्री रूप और सनातन दोनों ने राज्य कार्य छोड़ दिया। रूप पहले निकले और प्रयाग में महाप्रभु से मिले। सनातन को बादशाह ने बन्दी कर दिया था। वे कारागार अधिकारी को द्रव्य देकर किसी प्रकार छूट सके थे, और काशी में श्रीचैतन्य के पास पहुँचे थे। महाप्रभु ने दोनों भाइयों को भक्ति का उपदेश करके क्रमशः वृन्दावन भेजा और वहाँ से वे पुरी पीछे आये।

उन दिनों पुष्टिमार्ग के आचार्य श्रीवल्लभाचार्य जी त्रिवेणी तट के सामने यमुना पार अडैल में रहते थे। प्रयाग में त्रिवेणी तट पर श्रीचैतन्य के साथ उनका साक्षात्कार हुआ और वे आदरपूर्वक अपने गृह ले गये चैतन्य देव को भिक्षा कराने। दो महापुरुषों का यह मिलन बहुत ही स्नेह-पूर्ण था।

× × ×

काशी में श्रीप्रकाशानन्द जी उन दिनों संन्यासियों में सर्वमान्य थे। वे अद्वैत शांकर मत के तत्कालीन स्तम्भ थे। उन्होंने पुरी में भी पत्र भेज कर श्रीचैतन्य पर आक्षेप करने

का ही प्रयत्न किया था। वृन्दावन से लौट कर जब महाप्रभु काशी पहुँचे तो स्वामी प्रकाशानन्द से उनका साक्षात्कार हुआ। मिलते ही महाप्रभु की विनम्रता तथा तेज ने प्रकाशानन्द जी के गर्व को समाप्त कर दिया। परस्पर शास्त्रचर्चा हुई और फल यह हुआ कि एक दिन जब महाप्रभु के दर्शन हुए तो प्रकाशानन्द जी ने भरे बाजार उनके चरण पकड़ लिये। वे अब भक्त बन चुके थे।

जगन्नाथ पुरी में

श्री चैतन्य देव के पुरी लौट आने से वहाँ के भक्तों को परम प्रसन्नता हुई। स्वरूप दामोदर जी ने नवद्वीप यह समाचार भेज दिया। वहाँ के भक्तों में भी रथयात्रा पर नीलाचल पहुँचने का उत्साह आया और इस बार तो उनका समुदाय बहुत बड़ा था।

दूसरी ओर श्रीरूप जी अपने छोटे भाई अनूप के साथ गौड़ देश होते पुरी आ रहे थे। मार्ग में रुग्ण हो कर अनूप जी ने देहत्याग दिया। उनके शरीर को गंगा में प्रवाहित करके रूप जी जगन्नाथ पुरी पहुँचे। इन्होंने मार्ग में ही श्री कृष्ण-लीला के दो नाटक लिखे थे। 'ललित माधव' में श्रीकृष्ण के द्वारिका चरित का वर्णन और 'विदग्ध माधव' में व्रज चरित का। ये दोनों संस्कृत के नाटक गौड़ीय भक्तों में बहुत ही समादृत हुये।

रूप और सनातन दोनों ही भाई अनुपम विद्वान्, परम-विरक्त होने के साथ अत्यन्त विनम्र थे। यवन-संपर्क में दीर्घ-काल तक रहने के कारण ये अपने शरीर को अपवित्र मानते थे। मन्दिरों से तथा उच्चवर्ण के सम्पर्क से अपने को दूर रखते थे। पुरी में रूप जी श्रीहरिदास जी का पता पूछ कर

उनके यहाँ गये और वहीं ठहरे। दूसरे दिन जब महाप्रभु श्रीहरिदास जी के यहां गये, तब रूप ने उनके चरणों में प्रणाम किया। शीघ्र ही इनके नाटकों की रचना का पता सब को लग गया। फिर तो प्रभु स्वयं भक्तों के साथ आकर इनसे वे नाटक सुनते थे।

सनातन पुरी में

श्रीसनातन जी भी कुछ समय पीछे ही जगन्नाथ पुरी पहुँचे। वे भी श्रीहरिदास जी के स्थान पर ही सीधे गये। मार्ग में इनके सम्पूर्ण शरीर में खुजली के फोड़े हो गये थे। प्रभु श्रीजगन्नाथ जी का दर्शन करके नियमित रूप से हरिदास जी से मिलने आते थे। सनातन जी ने जब प्रभु को दूर से प्रणाम किया, उनके रोकने पर भी प्रभु ने उन्हें हृदय से लगा लिया।

प्रभु प्रतिदिन सनातन जी का आलिंगन कर लेते थे। सनातन को बड़ा दुःख होता था कि उनके फोड़ों का पीप प्रभु के शरीर में लग जाता है। इससे उन्होंने रथयात्रा के दिन श्री जगन्नाथ के रथ के नीचे गिर कर देहत्याग का निश्चय कर लिया। पता नहीं कैसे श्रीगौर ने उनकी इच्छा जान ली और उन्हें स्पष्ट आदेश देकर ऐसा करने से रोक दिया।

सनातन जी ने देहत्याग का निश्चय तो छोड़ दिया, किन्तु पुरी छोड़ कर अन्यत्र जाने का विचार जगदानन्द जी की सम्मति से कर लिया। यह समाचार प्रभु को मिला तो वे जगदानन्द पर बहुत रुष्ट हुये। इस बार श्रीचैतन्य ने सनातन का आलिंगन किया तो सनातन का शरीर तत्काल रोग-रहित हो गया।

रघुनाथदास का वैराग्य—

बंगाल में तीसबीघा नगर के पास सप्त ग्राम में दो भाई हिरण्य मजूमदार और गोवर्धन मजूमदार रहते थे। यह बहुत सम्पन्न परिवार था। दोनों में छोटे भाई के ही संतान थी और वह भी इकलौती। यही बालक रघुनाथदास थे बचपन से गम्भीर तथा धार्मिक। श्री चैतन्य जब पुरी से गौड़ गये थे, तब शांतिपुर आकर रघुनाथदास ने उनका दर्शन किया था। उसी समय वे घर-द्वार छोड़ना चाहते थे, किन्तु प्रभु ने रोक दिया था।

प्रभु के वृन्दावन यात्रा से लौट आने पर एक दिन अकस्मात् ही रघुनाथ पुरी पहुँच गये। घर से उन्हीं वस्त्रों में चल पड़े थे, जो शरीर पर थे और पैदल ही आये थे। पीछे पिता को पता लगा, किन्तु उन के सब प्रयत्न व्यर्थ गये, रघुनाथ न घर लौटे और न उन्होंने घर से आये धन को अपने काम में लिया।

पहिले ये जगन्नाथ मंदिर के सिंहद्वार पर रात्रि में भिक्षुकों के साथ खड़े हो कर भिक्षा में भात ले लेते थे। पीछे क्षेत्र में जाकर दिन में भिक्षा लेने लगे और अन्त में वह भी त्याग दिया। पुरी में भात बेचने वाले दूकानदार दो तीन दिन का बासी सड़ा भात गौओं के लिए फेंक देते हैं। रघुनाथ उसी को उठा लाते और धो डालते। फिर चुन कर सड़े दाने फेंक देते। जो बच जाता उसे बिना नमक ही खा लेते।

प्रभु अकस्मात् एक दिन इनकी कुटी पर पहुँचे और इन का वह जूठा भात परम पवित्र मान कर छीन कर खाने लगे। प्रभु इन्हें 'स्वरूप का रघु' कहते थे, क्यों कि इन के पारमार्थिक पथ-दर्शन का भार उन्होंने स्वरूप दामोदर को दे दिया था।

फिर भी स्वयं इन्हें उपदेश करते थे और वृन्दावन से जो गुंजामाला और गोवर्धन शिला शंकरारण्य सरस्वती ने लाकर प्रभु को दी थी, उसे उन्होंने रघुनाथदास को दी। ये एक फटी गुदड़ी और मिट्टी का 'करुआ' (जलपात्र) मात्र रखते थे।

श्री हरिदास जी का गोलोक वास

श्री हरिदास जी का शरीर वृद्ध हो गया था, उनमें जब अस्वास्थ्य का लक्षण दीखा, तब पता लगा कि उनका तन नहीं, मन अस्वस्थ है और मन का रोग है—'नामजप की संख्या पूरी नहीं हो पाती।' जप पूरा हुए विना हरिदास भगवत्प्रसाद भी लेना नहीं चाहते थे।

हरिदास का शरीर शिथिल होता गया। अन्त में प्रभु-भक्तों के साथ उनके समीप आये। सभी भक्तों की पदधूलि हरिदास ने लेकर शरीर पर लगाई और भगवन्नाम लेते लेते देहत्याग कर दिया। महाप्रभु देर तक भक्तों के साथ कीर्तन करते रहे। श्री जगन्नाथ जी का प्रसादी वस्त्र मँगा कर उस में उन्होंने हरिदास जी का शरीर लपेट कर विमान पर रखा।

समुद्र स्नान कराया गया शव को, और फिर समुद्र के पास रेत में उस देह को समाधि दी गयी। स्वयं प्रभु दूकान-दारों से उस दिन भिक्षा मांग रहे थे—'मैं अपने हरिदास का विजयोत्सव करूँगा ! मुझे भिक्षा दो !'

श्री हरिदास जी के अन्तर्धान होने के साथ ही जैसे श्री चैतन्य में परिवर्तन आ गया। वे आज तक कीर्तन करते करते मूर्छित हो जाया करते थे, किन्तु अब तो उनमें दिव्यो-

न्माद जैसे स्थिर हो गया। उनके पूरे बारह वर्ष दिव्योन्माद की दशा में व्यतीत हुये। प्रेम के शास्त्रवर्णित महाभाव का पूर्ण प्राकट्य श्री चैतन्य देव में हुआ।

गम्भीरा मन्दिर के दिन

श्री जगन्नाथ मन्दिर के समीप ही उत्कल नरेश के कुल पुरोहित श्रीकाशीमिश्र का भवन था। वह इतना विशाल था कि उसमें सैकड़ों मनुष्य सुखपूर्वक रह सकते थे। इसी भवन में महाप्रभु का निवास था और उनके परिकर तथा गौड़ देश से रथयात्रा पर आये भक्त भी रहते थे। इसी भवन में एकान्त में गुफा की भाँति एक छोटा कक्ष था। उसे गम्भीरा मन्दिर नाम मिला। एकांत वास की इच्छा होने पर श्री चैतन्य उसी में चले जाते थे। उस का द्वार इतना छोटा था कि एक मनुष्य भी उस में संकोच से जा पाता था।

पहिले श्री गौर गम्भीरा मन्दिर में कभी कभी ही शयन करने जाते थे, किन्तु जैसे जैसे प्रेमोन्माद बढ़ता गया, उसमें रहने की अवधि भी बढ़ती गई।

श्रीजगन्नाथ मन्दिर में महाप्रभु प्रायः गरुड़स्तम्भ के पास घण्टों खड़े रहते थे। महाप्रभु यहीं से श्री जगन्नाथ के दर्शन करते थे। एक दिन एक उत्कल की वृद्धा गरुड़स्तम्भ पर चढ़ कर, प्रभु के कन्धे पर पैर रख कर दर्शन करने लगी गोविन्द ने उसे रोकना चाहा तो प्रभु ने उन्हें मना कर दिया जब वृद्धा नीचे उतरी तो आप बोले—'माता! इतनी उत्कण्ठा श्री जगन्नाथ के दर्शन की मुझे नहीं, यही मुझे दुःख है, आप तो धन्य हैं, कि आप में इतनी तन्मयता है।'

× × ×

अनेक बार श्रीकृष्ण के वियोग का अनुभव करके महाप्रभु क्रन्दन करने लगते थे। रातभर दीवारों में मुख घिसते, जिससे घाव हो जाता था। कई बार वे बाहर चले जाते और कहीं दूर मूर्छित मिलते। एक बार सिंहद्वार के समीप मिले। उस समय उनका शरीर प्रलम्ब हो गया था। लगता था कि अस्थियों के जोड़ खुल गये हैं।

रेत के टीले चटक गिरि को एक बार गोवर्धन पर्वत समझ कर उधर दौड़ पड़े। प्रत्येक रोमकूप रोमाञ्च भाव की पराकाष्टा के कारण फोड़े के समान हो गया और सारे देह से रक्तस्राव होने लगा। वैवर्ण्य के कारण शरीर श्वेत पड़ गया और कम्प की तरंगें समुद्र की लहरों की भाँति उठने लगीं। भक्तवृन्द पास आ कर कीर्तन करने लगे, तब बड़ी देर में चेतना लौटी।

× × ×

गम्भीरा मन्दिर में एक क्षण के लिये सोते नहीं थे। दीवारों से रगड़ कर मुख क्षत-विक्षत कर लेते थे। 'हा कृष्ण! हा प्राणधन!' एक रट एक धुन। जल से पृथक् मत्स्य के समान छटपटाते रहते थे। गोविन्द रात-दिन प्रभु की छाया बने साथ रहते थे।

एक दिन रात्रि में किसी प्रकार श्रीगौर निकल गये अपने आवेश में। गोविन्द की नींद टूटी तो वह क्रन्दन कर उठा। भक्तगणों ने मशालें लीं। ढूँढते हुए जब लोग समुद्र तीर पर पहुँचे तो अद्‌भुत दृश्य मिला। गायें घेरा बनाये खड़ी कुछ चाट रही थीं। वह श्रीचैतन्य का देह था, किन्तु उसमें संकुचन भाव आ गया था। जैसे हाथ-पैर आदि धड़ में चले गये हों। कच्छप जैसी आकृति बन गई थी। ऐसी अवस्थाओं

में लोग कीर्तन करते थे और तब चेतना आती थी, श्री चैतन्य के देह में।

इसी प्रकार एक दिन श्री चैतन्य रात्रि में उन्मादावस्था में निकल गये और समुद्र में कूद पड़े। सम्पूर्ण रात्रि वे जल में पड़े रहे। भक्तों ने सब कहीं नगर और गुण्टीचा उद्यान ढूंढ लिया, तब समुद्र तट ढूंढने प्रातःकाल निकले। उधर मछली मारने वाले एक मल्लाह के जाल में महाप्रभु का शरीर उलझ गया। उसने जाल खींचा और मुर्दा जान कर उस देह को तट पर डाल दिया, भक्तगण पहुँचे और उनके संकीर्तन से बड़ी कठिनता से चैतन्य जागृत हो सके। प्रेम का परमभाव "मृत्यु" इस बार उनमें युक्त हुआ था।

× × ×

तिरोधान

श्री चैतन्यदेव ने २४ वर्ष नवद्वीप में रह कर गृहस्थाश्रम में व्यतीत किये थे और २४ वर्ष संन्यास लेकर वे पुरी में रहे थे। बारह वर्ष उनके दिव्योन्माद में व्यतीत हुए।

विक्रम सम्वत् १५९० का आषाढ़ मास था। रथयात्रा में सम्मिलित होने गौड़ से भी कुछ भक्त आ गये थे। महाप्रभु आज अत्यन्त गम्भीर थे। वे स्वरूप दामोदर से श्रीकृष्ण-कथा श्रवण कर रहे थे। सहसा उठ कर खड़े हो गये और एकाकी श्री जगन्नाथ मन्दिर की ओर दौड़ने लगे।

महाप्रभु को इस प्रकार मन्दिर की ओर जाते देख अन्य भक्त भी दौड़े। आज प्रभु अपने निश्चित स्थान गरुड़स्तम्भ के समीप रुके नहीं। वे सीधे दौड़ते चले गये और द्वार पर से एक बार उझक कर भीतर देख कर मन्दिर में पहुँच गये। सहसा मन्दिर के पट स्वतः बन्द हो गये।

उम समय गुञ्जाभवन (श्री जगन्नाथ मन्दिर के गर्भगृह) में एक पुजारी थे। उन्होंने देखा कि महाप्रभु श्री जगन्नाथ जी के सामने करबद्ध खड़े गद्‌गद् कण्ठ से प्रार्थना कर रहे हैं। प्रार्थना पूर्ण करके आप ने श्री जगन्नाथ के श्रीविग्रह का आलिंगन किया और उसी में ही लीन हो गये।

'प्रभो! आप यह क्या कर रहे हैं!' यह कहता पुजारी क्रन्दन कर उठा। बाहर भक्तगण द्वार खोलने की पुकार कर रहे थे। पुजारी ने द्वार खोला, किन्तु अब वहाँ श्री चैतन्य कहां थे।

कुछ प्रेरक घटनाएँ

गया से लौटने के पश्चात् श्री चैतन्य में एक अद्‌भुत प्रभाव आ गया था। वे जिसे भी हृदय से लगा लेते थे वह प्रेमोन्माद में नृत्य करने लगता था और भगवन्नाम का कीर्तन करते हुए भाव-विह्वल हो जाता था।

'जिसके दर्शनमात्र से दूसरों के मुख से स्वतः भगवन्नाम निकलने लगे, वह वैष्णव।' यह परिभाषा स्वयं चैतन्य ने की थी। यह परिभाषा दूसरों के सम्बन्ध में भले सार्थक न बनी हो, स्वयं महाप्रभु इससे अधिक थे। उनके स्पर्श से मनुष्य को भगवत्प्रेम प्राप्त हो जाता था।

जगाई-मधाई, काजी चाँदख़ाँ, वृन्दावन यात्रा में मिलने वाले पठान, महाराज प्रतापरुद्र तथा उन के राजकुमार आदि इतने उदाहरण हैं इस बात के कि नामोल्लेख कर पाना भी सम्भव नहीं है। पशु तक श्री चैनन्य का स्पर्श पा कर अपने स्वर में कुछ आनन्द मग्न बोलते और नाचते-से दीखते थे।

केवल महाप्रभु के परम भक्त शिवानन्द सेन महाशय जब अपने पुत्र परमानन्द दास—जिस का नाम प्रभु ने ही पुरीदास रख दिया था, इस बात के अपवाद निकले। बालक पुरीदास से प्रभु ने कृष्ण नाम लेने को कहा तो वे मौन रह गये। लेकिन यह अपवाद भी महान् है। प्रभु ने सात वर्ष के बालक से कहा—'तुम मेरी बात नहीं दुहराते तो अपनी बात सुनाओ।' बालक ने स्वरचित श्लोक सुनाया—

"श्रवणयोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥"

सब से पहिले कर्णाभरण का उल्लेख करने के कारण बालक तभी से 'कर्णपूर' कहा जाने लगा। ये कवि कर्णपूर आगे बहुत प्रख्यात हुए।

× × ×

श्री गौराङ्ग द्वारा जो हरिकीर्तन एवं श्रीकृष्णभक्ति की मधुर धारा प्रवाहित हुई, पीछे उसमें ऐसे लोग आ गये कि कालान्तर में गौड़ीय साधुओं के मठों को बंगाल के लोग विलासिता के अड्डे मानने लगे थे। वैष्णव दासियों के बिना ये मठ पूर्ण ही नहीं हो पाते थे, किन्तु श्रीचैतन्य स्वयं अपने जीवन काल में सदाचार के दृढ़तम समर्थक थे। उनका इस सम्बन्ध में कितना दृढ़ मन्तव्य था, यह अनेक घटनाओं से प्रकट होता है।

महाप्रभु की दक्षिण यात्रा में (काला) कृष्णदास उनके साथ था। उसने प्रभु की भली प्रकार सेवा की थी। लेकिन मार्ग में वह दूसरे साधुओं के प्रलोभन देने पर उनके साथ हो गया। वहाँ तो श्रीगौर ने उसे छोड़ा नहीं। उसे उस दुःसंग से निकाल लाये, किन्तु जगन्नाथ पुरी पहुँचते ही कह दिया—'यह

कामिनी-कञ्चन का लोभी है। इन्द्रियों पर इस का तनिक भी वश नहीं। अब यह मेरे साथ नहीं रह सकता।' कृष्णदास क्रन्दन कर उठा। दूसरे लोगों ने प्रभु से अनुनय विनय की, लेकिन श्रीगौर दृढ़ रहे। अन्ततः, नित्यानन्द जी ने कृष्णदास को नवद्वीप भेज दिया।

× × ×

जगन्नाथ पुरी में प्रभुभक्तों में प्रसिद्ध नाम जापक (यवन) हरिदास जी के अतिरिक्त एक और हरिदास थे। ये प्रभु को कीर्तन के पद सुनाया करते थे। मधुर स्वर के गायक थे। इन्हें कीर्तनिया हरिदास या छोटे हरिदास कहा जाता था।

उन दिनों श्रीकृष्ण की नित्य मधुरलीला के अन्तरंग गणों में पुरी में साढ़े तीन गण माने जाते थे। १. स्वरूप दामोदर। २. राय रामानन्द। ३ शिखि माहिती (श्री जगन्नाथ मन्दिर के हिसाब रखने वाले) तथा आधे में शिखि माहिती की तपस्विनी विधवा बहिन माधवी दासी।

एक दिन प्रभु श्री भगवानाचार्य के यहाँ भिक्षा करने गये। पूछने पर उन्हें पता लगा कि भिक्षा में जो चावल बने हैं उन्हें छोटे हरिदास माधवी देवी के यहाँ से लाये है। छोटे हरिदास गायक होने से कुछ शृंगारप्रिय थे। उस दिन भिक्षा करके लौटते ही प्रभु ने गोविन्द को आदेश दिया—'अब से छोटा हरिदास हमारे यहाँ कभी न आने पावे।

इस आदेश से सभी स्तब्ध रह गये। छोटा हरिदास तो व्याकुल हो गया। सब भक्तों ने प्रार्थना कर ली, किन्तु प्रभु ने क्षमा नहीं किया। हरिदास ने अनशन किया। श्रीपरमानन्द पुरी प्रभु को मनाने गये तो प्रभु श्रीजगन्नाथ पुरी से ही अन्यत्र

जाने को उठ खड़े हुए। वे कहते थे—साधु के लिये स्त्री से एकान्त में सम्भाषण घोर पाप है।

बेचारा छोटा हरिदास अन्त में निराश होकर दूर से प्रभु को प्रणाम करके पुरी से प्रयाग गया और वहाँ त्रिवेणी के संगम जल में उसने देह-त्याग कर दिया। थोड़े समय पीछे जब प्रभु को यह समाचार मिला तो दुःखी होने के स्थान पर वे प्रसन्न होकर बोले—'उसने अपने पाप का उचित प्रायश्चित किया है।'

× × ×

एक दिन रात्रि के प्रथम प्रहर में श्रीचैतन्य अपने निवास में बैठे थे। कहीं से बड़ा ही मधुर स्वर गीतगोविन्द-गायन का सुनाई पड़ा। कोई देवदासी गायन कर रही थी। महाप्रभु उस गीत को सुनते ही प्रेमावेश में उठ कर दौड़ पड़े।

संयोग अच्छा था। एक भक्त ने प्रभु को उस देवदासी के समीप पहुँचने से पहिले ही रोक लिया। ठीक चेतना में आने पर जब यह बात श्रीगौराङ्ग को बताई गई कि उन्हें क्यों रोक लिया गया था, तो वे उस पकड़ने वाले भक्त को हृदय से लगा कर विह्वल स्वर में बोले—"भाई, तुमने आज मेरी प्राणरक्षा की है। यदि मैं उस देवदासी को स्पर्श कर लेता तो पीछे अब प्रायश्चित स्वरूप प्राणत्याग ही मेरे पास एकमात्र उपाय था।

× × ×

संन्यासी को एकान्त में युवती स्त्री से भूल कर भी मिलना नहीं चाहिए और उसे पदार्थों का कल के लिये संग्रह भी नहीं करना चाहिये। यदि ये दोनों बातें निभाना सम्भव न हो तो साधुवेश त्याग कर गृहस्थ बनना ही श्रेयस्कर है। यह मान्यता श्रीचैतन्य की बहुत दृढ़ थी।

महाप्रभु श्री नित्यानन्द जी को बड़ा भाई मानते थे। उन का अत्यधिक सम्मान करते थे। श्री नित्यानन्द जी का स्वभाव आनन्दी था। वे नियमों के बन्धन को मान कर चलने वाले नहीं थे। फलतः, महाप्रभु ने अतिशय आग्रह किया कि वे विवाह कर लें। श्रीनित्यानन्द जी गौड़ में भगवद्भक्ति का प्रचार करते थे। उनके चपल स्वभाव के कारण अनेक लोग नानाप्रकार के अपवाद उनके सम्बन्ध में प्रसारित करने लगे। ये बातें श्रीजगन्नाथ पुरी पहुँचीं। महाप्रभु से वास्तविकता छिपी नहीं थीं। लेकिन फिर भी उन्होंने श्रीनित्यानन्द जी के पुरी आने पर उनसे गृहस्थ धर्म स्वीकार करने का आग्रह किया। उस आग्रह को स्वीकार करके गौड़ लौट कर नित्यानन्द जी ने विवाह कर लिया।

× × ×

जगन्नाथ पुरी से महाप्रभु जब पहिली बार वृन्दावन जाने के लिए निकले, तब गोविन्द साथ थे। एक दिन शिक्षा के अनन्तर गोविन्द ने मुखशुद्धि के लिये प्रभु को आधी हरीतकी दी। शेष आधी जब दूसरे दिन दी तो प्रभु ने कहा—'साधु होकर भी तुम्हारी संग्रह करने की प्रवृत्ति गई नहीं। अब तुम मेरे साथ नहीं रह सकते। यहीं कुटिया बना कर रहो और विवाह करके भगवद्भजन करो।'

बड़ा दुःख हुआ गोविन्द को, किन्तु प्रभु ने उन्हें साथ नहीं लिया। गोविन्द को प्रभु का आदेश मान कर गृहस्थ बनना पड़ा।

× × ×

श्री जगदानन्द जो प्रभु के अत्यन्त नैष्ठिक भक्त थे। गौड़ से वे प्रभु के लिए चन्दनादि तैल बड़े परिश्रम से बनवा कर ले आये थे, किन्तु प्रभु ने स्पष्ट कह दिया—'संन्यासी के लिये

सुगंधित तैल-मर्दन मर्यादा के विपरीत है। यह तैल श्रीजगन्नाथ जी के मंदिर में दीप जलने को दे दो।' जगदानन्द जी को इससे इतना क्षोभ हुआ कि उन्होंने उठा कर तैल का मटका आंगन में पटक दिया।

दूसरी बार जगदानन्द जी ने सेमल की रुई गेरुये वस्त्र में भर कर प्रभु के लिये गद्दा बनवाया, किन्तु श्रीचैतन्य ने इसे भी साधु के लिये त्याज्य माना। वे गद्दे भी उनके उपयोग में नहीं आये। यद्यपि प्रभु जानते थे कि इससे जगदानन्द जी बहुत दुःखी होंगे।

× × ×

साधु को कोई आडम्बर नहीं करना चाहिये और न कोई मूल्यवान वस्तु अपने पास रखनी चाहिये। उसकी शोभा है सादगी और त्याग। इस बात पर श्रीगौर की सदा सतर्क दृष्टि रहती थी।

श्रीचैतन्य के संन्यास-दीक्षा गुरु श्रीकेशव भारती के गुरु भाई श्रीब्रह्मानन्द जो भारती महाप्रभु से मिलने पुरी पधारे। प्रभु को सूचना मिली तो वे भवन से बाहर आकर पूछने लगे—'श्रीभारती महाराज कहाँ हैं?'

श्रीभारती महाराज मृगचर्म ओढ़े खड़े थे। अतः प्रभु ने उन्हें पहिचानना अस्वीकार करते हुए कहा—'भला मेरे गुरुदेव के समान भारती जी आडम्बरप्रिय हो सकते हैं!' मृगचर्म दूर किया भारती जी ने और तब चैतन्य उनके चरणों में प्रणत हो गये।

× × ×

श्रीसनातन जब काशी में पहले-पहल प्रभु से मिले तो उनके कन्धे पर एक मूल्यवान सुन्दर कम्बल था। यह कम्बल

उन्हें पटना में उनके सम्बन्धियों ने अत्यन्त आग्रह पूर्वक दिया था। बार बार प्रभु की दृष्टि उस कम्बल पर जाती थी। सनातन समझ गये और जब वे कुछ घण्टे बाद गंगास्नान करके प्रभु से मिले तो एक भिक्षुक को कम्बल देकर उसकी फटी गुदड़ो ले आये थे। प्रभु इससे अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने सनातन के त्याग को सराहा।

× × ×

सम्मानं कलयानि घोर गरलं नीचापमानं सुधाम्।"

साधक जीवन के इस आदर्श को श्रीचैतन्य में साकारता प्राप्त हुई। सार्वभौम भट्टाचार्य तथा उनका परिवार जहाँ प्रभु का अत्यन्त भक्त था, वहीं उनका दामाद अमोघ प्रभु का द्वेषी था। वह प्रभु की निन्दा करता ही रहता था। प्रभु जब सार्वभौम के घर भिक्षा करने गए, अमोघ ने उनके सामने कहा—"यह मनुष्य है या और कुछ! इतना अधिक भोजन कहीं मनुष्य कर सकता है!"

महाप्रभु ने अमोघ की बात पर ध्यान नहीं दिया; किन्तु उसी अमोघ को उसी रात्रि जब विषूचिका हो गई तो समाचार पाकर प्रभु दौड़ आए। उन्होंने अमोघ को अपनी कृपा से जीवन और स्वास्थ्य ही नहीं दिया, भगवत्प्रेम से पवित्र भी कर दिया।

काशी के स्वामी प्रकाशानन्द जी प्रभु की आलोचना करने वाले थे और उन्हें प्रभु की कृपा से भगवत्प्रेम प्राप्त हुआ, यह बात पीछे पुस्तक में आ चुकी है। श्री जगन्नाथपुरी में आए ईश्वरपुरी जी के गुरुभाई (श्री माधवेन्द्र जी पुरी के शिष्य) श्री रामचन्द्रपुरी भी ऐसे ही व्यक्ति थे। ये निन्दक प्रकृति के शुष्क ज्ञानी थे। अपने गुरुदेव श्री माधवेन्द्रपुरी को

से दुःख हुआ है, तो उन्होंने गोपीनाथ जी को क्षमा कर दिया।

लेकिन सम्मान, चमत्कार, अद्भुत प्रतिभा तथा पाण्डित्य मुख्य बातें नहीं हैं। मुख्य बात यह है कि चैतन्यदेव ने उस अंधकार-पूर्ण काल में, वामाचार के मुख्य केन्द्र गौड़ में एक महान् जागृति उत्पन्न कर दी। हरिनाम के उद्घोष से दिशाएं पवित्र हो गईं। जाति-पाँति का बन्धन छिन्न हो गया और कौलाचार के नाम पर चलने वाला अनाचार अपने को प्रच्छन्न कर लेने को विवश हो गया।

त्याग, वैराग्य, संयम एवं सदाचारपूर्वक भगवद्भक्ति का सेवन, भगवन्नाम का अवलम्बन—यह श्रीचैतन्य महाप्रभु का शाश्वत सन्देश है, जो मानवता को सदा आलोक देता रहेगा।

महात्मा कबीर

[१३९८–१४७८]

●

रत्नचन्द्र एम. ए.

पृष्ठभूमि

आज से लगभग पांच सौ त्रेसठ वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १३९८ ई० (सम्वत् १४५५ विक्रमी) में ज्येष्ठ पूर्णिमा सोमवार के दिन काशी के निकट लहरतारा नामक तालाब के तट पर नीरू जुलाहे को एक नवजात बालक पड़ा हुआ मिला। नीरू के साथ उसकी नवविवाहिता पत्नी नीमा भी थी जिसे वह उसके मायके से ला रहा था। नीरू ने उस बालक को उठा लिया और अपनी पत्नी की गोद में डाल दिया तथा उसे अपनी निजी सन्तान के समान पालने का आदेश दिया। यही बालक आगे चल कर महत्मा कबीर, भक्त कबीर, सन्त कबीर आदि नामों से विख्यात हुआ।

जिस समय महात्मा कबीर का आविर्भाव हुआ उस समय देश की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उत्तर भारत की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक दशा सर्वथा अव्यवस्थित और डाँवाडोल थी। जिस वर्ष कबीर का जन्म हुआ, उसी वर्ष (१३९८ ई०) तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया था तथा अपनी बर्बरता एवं धर्मान्धता का नृशंस नाच दिखाते हुए दिल्ली तथा उसके आस-पास की धरती को मानव-रक्त से आप्लावित कर दिया था। तैमूर के सिपाहियों ने लाखों निरीह हिन्दुओं की हत्या की और भारत से लौटते समय प्रत्येक सिपाही सौ-सौ स्त्री, पुरुष और बच्चों को गुलाम बना कर ले गया।

उन दिनों देश के शासक भी दुराचारी और नृशंस थे। उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे देश की दीन-अवस्था में उसके सहायक बनते। तैमूर के आक्रमण से पूर्व मुहम्मद तुग़लक और फीरोज़ तुग़लक शासन कर चुके थे। इन दोनों शासकों का समय भारत की प्रजा के लिए कष्ट का समय था। मुहम्मद तुग़लक की राजधानी-परिवर्तन, फारस-विजय-यात्रा, ताम्रसिक्कों का प्रचार और नृशंस मानवहिंसा आदि बातें जनता के लिए बड़ी दुःखदायी और घातक सिद्ध हुई थीं। फ़ीरोज़ तुग़लक भी अत्यन्त सङ्कीर्ण-हृदय और धर्मान्ध था। वह अत्याचारी और आचरणभ्रष्ट भी था।

तुग़लक वंश के पतन के पश्चात् दिल्ली के सिंहासन पर सैयद और लोदी नामक दो पठान वंशों ने राज्य किया। बहलोल लोदी ने अवश्य अपनी उदारता और दयालुता से एक बार फिर से देश को एक सूत्र में बाँधने का यत्न किया। परन्तु उसका उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी अत्यन्त क्रूर, असहिष्णु, धर्मान्ध और अदूरदर्शी था। उसने बहलोल के प्रयत्नों पर पानी फेर दिया। उसकी आज्ञा थी कि कोई हिन्दू यमुना में स्नान न करे। उसने बोधन पण्डित को इस्लाम को स्वीकार न करने पर मृत्यु-दण्ड दिया था। किंवदन्ती है कि उसने महात्मा कबीर को भी मृत्यु-दण्ड दिया था। कबीर ने स्वयं भी इस घटना का उल्लेख किया है। कबीर ग्रन्थावली में और गुरु ग्रन्थ साहब में संगृहीत कबीर-बाणी में लिखा है—

"अति अथाह जल गहिर गम्भीर
बांधि जंजीर जल बोरे हैं कबीर

जल की तरंग उठि कटि हैं जंजीर
हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर ॥"

और—

"बांधि भुजा भलैं करि डार्यौ, हसति कोपि मूंड मैं मार्यौ।
भाग्यौ हस्ती चीसां मारी, वा मूरति थी मैं बलिहारी।
कहा अपराध सन्त हौं कीन्हां, बांधि पोट कुंजर कूँ दीन्हां ॥"

मीरांबाई, अनन्तदास, बपना जो, हरिदास जी तथा रज्जब जी ने भी अपने पदों में इस घटना का उल्लेख किया है और बताया है कि सिकन्दर लोदी ने महात्मा कबीर को मरवाने की चेष्टा की थी, परन्तु अपने तप के प्रभाव से अथवा भगवद्-भजन की महिमा से बच गए थे। इस पर उन्हें काशी छोड़ कर मगहर जाने का आदेश दिया गया था।

धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियां भी अच्छी नहीं थीं। हिन्दू और मुसलमान दोनों रूढिवादी, आडम्बरप्रिय, असत्य और मिथ्यात्व के पुजारी बन चुके थे। दोनों ही धर्म के नाम पर आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड को अपना रहे थे और उसको धर्म का चरम-लक्ष्य एवं ईश्वर-प्राप्ति का साधन समझ रहे थे। ढोंगी साधुओं और फकीरों को मनमाने ढंग से जनता को लूटने तथा पथभ्रष्ट करने का अवसर मिला हुआ था।

वर्णाश्रम व्यवस्था ने भी, जो हिन्दूधर्म का दृढ़ स्तम्भ माना जाता था, शिथिल होना आरम्भ कर दिया था। उसने जाति-पाँति की कट्टरता का रूप ग्रहण कर लिया। उनकी उस भावना की प्रतिक्रिया के रूप में निम्न जातियों के लोगों ने भी उन्हें ललकारना आरम्भ कर दिया था। स्वामी रामानन्द,

कबीर, गुरु नानक आदि सन्तों की वाणियों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। कबीर कहते हैं—"तू ब्रह्म मैं कासी का जुलाहा बूझउ मोर गियान", "तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा मोहि तोहि बराबरी कैसे के निबहै" और "पंडिया कौन कुमति तुम लोग"।

मुसलिम समाज की दशा भी अच्छी नहीं थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान विजेता थे और इसलिए उनकी आर्थिक दशा हिन्दुओं से अच्छी थी, परन्तु वे अभिमानी और विलासी थे और अपने प्राचीन आदर्शों से च्युत हो चुके थे। विलासिता, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा आदि दुष्प्रवृत्तियों ने मुसलमान अमीरों को बुरी तरह घेर रखा था। वे सर्वथा आचरण-भ्रष्ट थे।

धर्म की शृंखला पूर्णतया शिथिल हो चुकी थी और उसके फलस्वरूप अनेक धाराएँ तथा अनेक मतमतान्तर फैल रहे थे। उस समय 'अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग' वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। बौद्ध धर्म ने अत्यन्त विकृत रूप धारण कर लिया था और महायान शाखा ने विकृत होकर अनेक नास्तिक, विलासप्रिय, आडम्बर-प्रधान एवं तन्त्रशास्त्रप्रधान सम्प्रदायों का रूप ले लिया था। वज्रयान, सहजयान, निरंजनपन्थ और बाउल सम्प्रदाय आदि ऐसे ही सम्प्रदाय थे। वे मद्यपान और स्त्रीसेवन को उपासना का अङ्ग समझते थे।

इस प्रकार उस समय राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सभी दृष्टियों से देश की दशा शोचनीय थी और कुछ ऐसे समाज-सुधारक सन्तों की आवश्यकता थी जो हिन्दू और

मुसलमान दोनों समाजों का सुधार करते और उन्हें एक सूत्र में बाँधने का प्रयास करते।

स्वामी रामानन्द, महात्मा कबीर, सन्त रविदास, गुरु नानक, बाबा फ़रीद आदि इसी प्रकार के महापुरुष थे, जिन्होंने उन विकट परिस्थितियों को सुधारा और जाति तथा धर्म के संकुचित घेरे से ऊपर उठ कर हिन्दुओं और मुसलमानों को सच्चे धर्म का उपदेश दिया एवं उन्हें सङ्कीर्णता तथा दलबन्दी की दल-दल से निकाल कर सीधे और सरल मार्ग पर आरूढ़ किया। कबीर का स्थान इनमें सबसे ऊँचा है।

जन्म तथा पालन-पोषण

महात्मा कबीर के जन्म, जन्मस्थान, माता-पिता, गुरु, शिक्षा-दीक्षा, देहावसान आदि के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं जिनके विषय में विद्वानों में बहुत मत-भेद है। कबीर-पंथियों का कहना है कि वे एक दिव्य-पुरुष थे। उनका जन्म साधारण मानवों के समान माता-पिता के गर्भ से नहीं हुआ था। वे "सम्वत् चौदह सौ पचपन विक्रमी ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार के दिन सत्य पुरुष के तेज के रूप में काशी के लहरतारा तालाब में उतरे थे।" संयोगवश नीरू नामक जुलाहा गौना लेकर अपनी पत्नी नीमा के साथ उधर से जा रहा था। उस जुलाहा-दम्पति ने यह सोचकर कि किसी विधवा या कुँवारी ने लोकभय से इस सुन्दर बालक को यहाँ फेंक दिया है, उन्हें उठा लिया और घर ले जाकर उसका पालन-पोषण किया।

जनश्रुति के अनुसार उन का जन्म रामानन्द के आशीर्वाद के फलस्वरूप एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ। वह एक

दिन अपने पिता के साथ, जो स्वामी जी का भक्त था, उन के दर्शन के लिए गई। स्वामी जी ने भूल से उसे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया। जब उसके पिता ने स्वामी जी को बताया कि वह तो विधवा है, तो उन्हें अपनी भूल पर खेद हुआ। उन्होंने कहा कि उन का आशीर्वाद तो मिथ्या नहीं होगा, परन्तु उसके गर्भ से जो बालक उत्पन्न होगा वह बहुत बड़ा यशस्वी महापुरुष होगा और देश तथा समाज का बहुत उपकार करेगा। परिणामस्वरूप जब उस विधवा के घर में बालक उत्पन्न हुआ तो उस ने लोकलज्जा के भय से उसे लहरतारा तालाब के किनारे पर फेंक दिया। वहाँ से नीरु और नीमा ने उस बालक को उठा लिया।

नीरु और नीमा ने काज़ी द्वारा बालक का नामकरण कराया। किताब में कबीर, अकबर, कुबरा, कुबरिया चार नाम निकले। चारों नाम इतने बड़े थे कि एक गरीब जुलाहे के लड़के को नहीं दिये जा सकते थे। इस लिए पहले तो काज़ी ने आनाकानी की, परन्तु बाद उसे कबीर नाम दे दिया गया।

कबीर को बचपन से ही रामनाम की लगन लग गई और उनमें एक भावी रामभक्त और सन्त के चिह्न दिखाई देने लगे। कहा जाता है कि जब वे पांच वर्ष के थे तभी बालकों में खेलते समय अपने मुसलमान जुलाहा कुल की परम्पराओं और मान्यताओं के विरुद्ध 'राम-राम' और 'हरि-हरि' कहा करते थे। यदि कोई मुसलमान उन्हें रोकता था तो वे उसे फटकार देते थे। कुछ और बड़ा होने पर उन्हों ने सन्तों के समान माला भी पहननी आरम्भ कर दी। अपने परवर्ती जीवन में उन्होंने सत्संगति, सन्तसमागम और साधु-सेवा पर

बड़ा ज़ोर दिया। उनकी साखियां इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं।

कबीर ने जब रामनाम का प्रचार आरम्भ किया तथा लोगों को सच्चे धर्म का उपदेश देना आरम्भ किया तो बहुत से लोगों ने उन्हें 'निगुरा-निगुरा' 'अररर कबीर' आदि कह कर चिढ़ाना आरम्भ कर दिया। इस पर उन्होंने किसी योग्य गुरु की खोज आरम्भ की। उन की दृष्टि स्वामी रामानन्द जी पर गई जो अत्यन्त उदार और उच्च विचारों वाले महापुरुष थे। वे श्री रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में होते हुए भी सामान्य जनता को भक्ति की अधिकारिणी स्वीकार करते थे। उन्होंने भक्ति का द्वार स्त्रियों तथा सभी निम्न जातियों के लिए खोल दिया था। उनके शिष्यों में जहां उच्चवर्गीय ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि थे वहाँ धन्ना, पटवा, जुलाहा, चमार आदि निम्न जातियों के लोग भी थे। कबीर उनकी सेवा में उपस्थित हुए, परन्तु स्वामी जी ने कदाचित् यह सोच कर कि वे मुसलमान हैं और उन्हें शिष्य बनाने पर अन्य मुसलमान व्यर्थ में उपद्रव खड़ा करेंगे, उन्हें अपना शिष्य बनाने से इनकार कर दिया।

इस पर कबीर जी ने एक उपाय सोचा। कबीर चरित के लेखकों का कहना है कि वे एक दिन सूर्योदय से बहुत पहले अन्धेरे में ही जा कर गंगा जी की उन सीढ़ियों पर लेट रहे जहाँ स्वामी रामानन्द जी प्रभात के समय स्नान करने के लिए उतरते थे। जब स्वामी जी आए तो अन्धेरे में उनका पैर कबीर के सिर पर अथवा शरीर पर पड़ गया। वे कुछ घबरा गए और उन के मुख से 'राम-राम' शब्द निकल पड़े। कबीर ने इन्हीं शब्दों को गुरुमन्त्र मान लिया और अपने आप

को स्वामी रामानन्द का शिष्य प्रसिद्ध कर दिया। लोगों ने स्वामी जी से इस बात की चर्चा की तो उन्होंने कबीर को बुला कर पूछा। कबीर ने कहा—"स्वामी जी! और कोई तो मन्त्र कान में देते हैं, परन्तु आप ने तो मेरे सिर पर पाँव रख कर मुझे राम-राम कहने का आदेश दिया था।" स्वामी जी ने जब स्पष्ट समझा कर बताने को कहा तो उन्होंने सारी बात साफ़-साफ़ बता दी। इस पर स्वामी जी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें छाती से लगा लिया तथा अपना शिष्य बना लिया।

कुछ लोग शेख तक़ी को उनका गुरु स्वीकार करते हैं, परन्तु इस मत में कुछ भी तथ्य प्रतीत नहीं होता और न ही इसकी पुष्टि में कोई विशेष प्रमाण ही मिलता है।

पारिवारिक जीवन

कबीर के पारिवारिक जीवन के विषय में अनेक दन्त-कथाएँ प्रचलित हैं। उनके परिवार में उनके तथा उनके माता-पिता के अतिरिक्त उनकी पत्नी तथा दो संतानें थीं। उनकी पत्नी का नाम लोई था। लड़के का नाम कमाल और लड़की का नाम कमालो था। कमाल बाद में सन्त कमाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कबीर और लोई के सम्बन्ध में भी विचित्र दन्तकथा प्रचलित है। कहते हैं कि कबीर एक दिन गंगा के तट पर घूमते हुए एक वनखण्डी वैरागी की कुटिया में जा पहुँचे। वहाँ उनका साक्षात्कार एक बीस वर्ष की युवती से हुआ। उसका नाम लोई था और वह वनखण्डी वैरागी की पालिता पुत्री थी। पूछने पर लोई ने कबीर को बताया कि वह वहाँ

अकेली रहती है, क्योंकि उसके पोषक पिता वैरागी की मृत्यु हो चुकी है। उस वैरागी ने उसे कम्बल में लिपटे हुए एक नवजात शिशु के रूप में पाया था और उसे पाला था। ऊनी वस्त्र में लिपटी हुई पाई जाने के कारण उसका नाम लोई रख दिया गया था।

कबीर और लोई इस प्रकार परस्पर बातचीत कर रहे थे कि इतने में वहाँ पांच सन्त और आ पहुँचे। लोई ने सब का स्वागत किया और सब के लिए दूध ला कर रखा। सन्तों ने उस दूध के सात भाग किये—पांच अपने लिए, एक लोई के लिए और एक कबीर के लिए। सब ने अपना भाग पी लिया, परन्तु कबीर ने यह कह कर रख छोड़ा कि गंगा पार से एक और सन्त आ रहे हैं, वे अपना भाग उन्हें देंगें। बात सत्य निकली और थोड़ी देर के बाद एक और सन्त गंगा पार करके वहाँ आ पहुँचे। कबीर ने अपना भाग उन्हें दे दिया। लोई और अन्य सन्त इस घटना से बड़े प्रभावित हुए। लोई को कबीर पर बड़ी श्रद्धा हुई और वह उनके साथ जा कर शिष्या के रूप में उनके पास ही रहने लगी। बाद में उसने उनके साथ ही विवाह कर लिया और गृहस्थ जीवन बिताना आरम्भ कर दिया। कबीर का विश्वास था कि गृहस्थ में रहते हुए और अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए भी ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है और मुक्ति को पाया जा सकता है।

वे काशी में रहते थे और कपड़ा बुनने का पैतृक व्यवसाय करते थे। उनकी पत्नी हर प्रकार से उन्हें सहयोग देती थी, परन्तु फिर भी उनका गृहस्थ-जीवन सुखमय नहीं था। वह

अपनी आय का अधिकांश भाग साधु-सन्तों की सेवा में व्यय कर देते ये। इस लिए उनकी तथा उनकी माता नीमा की आपस में खट-पट लगी रहती थी। नीमा कट्टर मुसलमान थी, परन्तु कबीर रूढ़ियों तथा बाह्याडम्बरों के प्रबल शत्रु थे तथा हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता के समर्थक थे। इस लिए भी मां-बेटे में नहीं बनती थी। नीरु गृहकलह में तटस्थ रहते थे और कभी कभी कबीर का पक्ष भी लेते थे। इन बातों का उल्लेख कबीर ने स्वयं अपनी रचनाओं में किया है। "बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल" कह कर उन्होंने अपने बेटे कमाल की भी भर्त्सना की है।

महात्मा कबीर को काशी से विशेष मोह था और उन्होंने अपने पदों में काशी का अनेक बार उल्लेख किया है। उनके परचई-लेखक अनन्तदास ने लिखा है कि एक बार वे गुरु रामानन्द की सन्तमण्डली के साथ सन्त पीपा के देश (गागरोनगढ़) गये और वहां से द्वारिका पहुँचे। वहां गुरु ने रैदास से पूछा कि सप्तपुरियों में सबसे अच्छी कौनसी है। रैदास ने उत्तर दिया—'मथुरा'। सम्भव है कि रैदास ने गुरु के मन की बात को जान कर उनके मनोनुकूल ऐसा उत्तर दिया हो, क्योंकि मथुरा में स्वामी रामानन्द जी के शिष्य अनन्तानन्द रहते थे और स्वामी जी उन्हें मिलना चाहते थे। जब गुरु ने कबीर से पूछा तो उन्होंने सब पुरियों को समान बताया और कहा—"चलहु गुसाईं कासी जइयै। घर ही बैठे माधो पइयै"।

वे वस्तुतः 'भावभगति' के समर्थक होने के कारण घर-बार छोड़ने और वैरागी बन कर तीर्थाटन करने के पक्षपाती नहीं थे। उनके विचार में घर में रहते हुए भी भक्ति की जा

सकती है और तीर्थों पर जाने तथा वनों में घूमने से भी ईश्वर को नहीं पाया जा सकता। इसलिए कबीर घर में ही भावभक्ति में लीन रहते थे, साधु-सन्तों की सेवा करते थे और अपना ताने-बाने का काम करते रहते थे।

उनकी रचनाओं में उनके मानिकपुर, झूंसी और ऊँजी (जौनपुर) जाने का उल्लेख मिलता है। गोमती के तट पर रहने वाले किसी पीताम्बर पीर नामक फकीर को मिलने के लिए भी वे जाया करते थे। वहां की यात्रा को वे अपना हज बताते हैं। वे कहते हैं—"हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहि पीताम्बर पीर।"

कार्य-क्षेत्र में

स्वामी रामानन्द की मृत्यु के पश्चात् उनके द्वारा प्रवाहित भक्ति-भागीरथी के पावन जल को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य-भार महात्मा कबीर ने अपने ऊपर ले लिया। वे सब प्रकार से इस कार्य के योग्य भी थे। उन्होंने इस कर्त्तव्य को पूरा भी बहुत अच्छी तरह किया। कदाचित् इसीलिए कहा जाता है—

"भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द।
कबीर ने परगट करी, सात दीप नव खंड॥

परन्तु यह कार्य सुगम नहीं था और कबीर को अनेक बाधाओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। लोग कबीर की भावभक्ति को, उनकी आचारप्रियता को, उनकी हिन्दू-मुसलिम-एकता की भावना को और उनकी सुधारवादिता को सुनने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने उनका विरोध किया, उन्हें जुलाहा, अरर कबीर, बेपीर आदि कह कर चिढ़ाया।

कबीर ने अनुभव किया कि लोगों में शुद्ध भावभक्ति का प्रचार तब तक नहीं हो सकता जब तक उनकी रूढियां, अन्धविश्वास और मिथ्याडम्बर दूर न हों और जब तक उनमें आचारप्रियता तथा हृदयशुद्धि की भावना उत्पन्न न हो। इसलिए उन्होंने यह आवश्यक समझा कि रूढियों, अन्धविश्वासों और मिथ्याडम्बरों का खण्डन किया जाए तथा सामाजिक विषमता को, ऊँच-नीच की भेद-भावना को दूर करके सबको मानवता के नाते एक होना सिखाया जाए। उन्हें सदाचारी और पवित्रात्मा बनने की शिक्षा दी जाए। अतः भक्त और सन्त होने के साथ-साथ वे समाज-सुधारक धार्मिक नेता भी बन गए। इससे जहां उनका कार्य-क्षेत्र बढ़ गया वहां उनका व्यक्तित्व भी बहुमुखी हो गया और धीरे-धीरे उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई। निम्न जातियों के लोग तो विशेष रूप से उनकी ओर आकृष्ट होने लगे। वे उन्हें एक पहुँचा हुआ सन्त, धार्मिक और आध्यात्मिक गुरु एवं सशक्त सामाजिक नेता समझने लगे।

बाह्याचारों के खण्डन से कबीर साहब का अभिप्राय था हिन्दुओं और मुसलमानों को उनकी त्रुटियां दिखा कर पारस्परिक वैमनस्य को दूर करना एवं सामाजिक एकता उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करना। अपने इस उद्देश्य में वे सफल भी हुए। उन्होंने दोनों जातियों को समझाया कि उनकी भलाई परस्पर मिलकर रहने में है, न कि एक-दूसरे का विरोध करने या एक-दूसरे का गला घोंटने में। ईश्वर सब में एक समान है। उसी ने सारे संसार को उत्पन्न किया है और वह स्वयं ही सारे संसार में व्याप्त है। उसी ने हिन्दुओं को बनाया है और उसी ने मुसलमानों की रचना की है।

अछूत का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न हो सकता है ? यह हमारा भ्रम है, कोरा अज्ञान है। वही राम है, वही रहीम है। राम और रहीम के आधार पर आपस में लड़ना-झगड़ना ठीक नहीं—

"अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थैं सब जग धीया, कौन भला कौन मंदा॥"
' इन मैं आप आप सबहिन मैं आप आप सूं खेलै।
नाना भांति घड़े सब भांडे रूप धरे धरि मेलै॥"
"हिन्दू तुरक का साहिबु एक।
कह करै मुल्लां कह करै सेख॥"
"हिन्दू कहत हैं राम हमारा, मुसलमान रहिमाना।
आपस में दोऊ लड़े मरतु हैं, भरम कोई नहीं जाना॥"

उनकी धार्मिक पक्षपात से रहित वाणी ने सार्वजनीन सिद्धान्तों का प्रचार किया जिससे एक ओर हिन्दुओं और मुसलमानों में समभाव की स्थापना हुई और दूसरी ओर उन्हें अपने-अपने धर्म पर आरूढ़ रहते हुए भी आत्मकल्याण का मार्ग दिखाई देने लग गया। उन्होंने समझ लिया कि आत्म-कल्याण का उपाय आत्म-दर्शन तथा सद्-धर्म पालन है, न कि पारस्परिक विद्वेष द्वारा मानवता का विरोध। इस प्रकार कबीर साहब ने समभाव के प्रचार से, हृदय की प्रेरणा से सत्पुरुष का सन्देश लोगों तक पहुँचाया, जनता के हृदय को परिष्कृत किया, उसे धार्मिक भावना से अनुप्राणित किया और सत्य की ज्योति से प्रकाशित किया।

समाज में समभाव की स्थापना के लिए महात्मा कबीर ने विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों के एकीकरण की ओर भी पग

उठाया और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के आध्यात्मिक सिद्धांतों का समन्वय किया। यही कारण है कि उनके आध्यात्मिक विचारों गें उपनिषदों के ब्रह्मवाद, शंकराचार्य के अद्वैतवाद और मायावाद, रामानुजाचार्य के प्रपत्तिवाद, वैष्णवों की भक्तिभावना, सूफ़ियों की प्रेम-साधना, इस्लाम के एकेश्वरवाद, बौद्धों के शून्यवाद, सहजयानियों के सहजवाद और नाथपंथियों के हठयोग का अद्भुत समन्वय है। इसीलिए बहुत से आलोचकों ने उन्हें सारग्राही समन्वयवादी सन्त कह कर पुकारा है।

कबीर अत्यन्त क्रान्तिकारी और स्वतन्त्र विचारों के सुधारक थे। शास्त्रीय विधि-विधान में वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था में और श्रौत-स्मार्त प्रामाण्यवाद में उनकी आस्था नहीं थी। इस लिए समाज, धर्म, व्यक्तिगत आचार-विचार आदि में जहाँ भी उन्हें पाखण्ड, आडम्बर, दुराचार, छलकपट, रूढ़ि-वादिता आदि का दर्शन हुआ वहीं उन्होंने आग लगा दी। उन्होंने समाज और धर्म के कूड़े-करकट में आग लगा कर आडम्बरों और पाखण्डों की खूब होली खेली तथा ईश्वर-पूजा की विभिन्न बाह्य विधियों पर से साधारण जनता का ध्यान हटा कर शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवन का प्रचार किया।

रूढ़िवादिता का खण्डन करने में उन्होंने तनिक भी हिच-किचाहट न दिखाई। यदि एक ओर उन्होंने मुसलमानी जोश के साथ हिन्दुओं के अवतारवाद, बहुदेवोपासना, मूर्तिपूजा, तीर्थ, श्राद्ध, एकादशी आदि व्रतों का खण्डन किया तो दूसरी ओर हिन्दू ब्रह्मज्ञानी बन कर मुसलमानों की कुर्बानी, नमाज़ रोज़ा, हज, ताजिएदारी आदि का भी विरोध किया। उनके

विचार में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही बाह्याडम्बरों के फेर में पड़ कर वास्तविकता को भूले हुए थे। दोनों ही मार्ग-भ्रष्ट थे। हिन्दू छुआछूत, ऊँच-नीच आदि दुर्भावना का शिकार हो रहे थे और आचार-हीनता को अपनाए हुए थे। मुसलमान भी हिंसक, विलासप्रिय और चरित्रभ्रष्ट थे। कबीर साहब ने दोनों को फटकारा और समझाया।

जन्म से कोई उच्च अथवा नीच, छोटा अथवा बड़ा नहीं हो सकता। धर्मशास्त्रों के अनुसार जन्म से सब बराबर होते हैं और अपने कर्मों से कोई छोटा या बड़ा, उच्च या नीच हो सकता है। केवल ब्राह्मण अथवा सैयद मुल्ला के घर में जन्म लेने से तो कोई बड़ा नहीं हो सकता और न ही निम्न जाति के घर में उत्पन्न होने से कोई नीच हो सकता है। जन्म से कोई भी द्विज या शूद्र अथवा हिन्दू या मुसलमान नहीं हो सकता। जब सभी जातियों और वर्णों के लोग एक ही ढंग से जन्म लेते हैं, एक ही प्रकार का सब को शरीर मिलता है, तब उच्चता और नीचता का भेदभाव क्यों? और क्यों न उच्च और नीच, छूत और अछूत के मनोभाव रखने वालों की भर्त्सना की जाए—

"एक बूंद एक मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जोति से सब उत्पना कौन ब्राह्मन कौन सूदा॥"
"काहे को कीजै पांडे छोति विचारा,
छोति हि ते उपजा सूद।
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध,
तुम कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद॥"
"अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर यवन न देई।

वेस्या के पायन तर सोवे यह देखी हिन्दवाई ॥
मुसलमान के पीर औलिया मुर्ग़ा मुर्ग़ी खाई ।
हिन्दुन की हिन्दवाई देखी तुरकन की तुरकाई ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो कौन राह है जाई ॥"

ईश्वर एक है और वह सर्वव्यापक तथा सर्वान्तर्यामी है। उसे केवल मन्दिर या मसजिद में बन्द नहीं समझा जा सकता और न ही उसके लिए पूर्व अथवा पश्चिम किसी विशेष दिशा को निश्चित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं और मुसलमानों की रूढ़िवादिता व्यर्थ है यदि ईश्वर मन्दिर में अथवा मसजिद में ही रहता है, तो जहाँ मन्दिर और मसजिद नहीं होती वहां कौन रहता है? इसी प्रकार यदि उसका घर पूर्व में अथवा पश्चिम में ही है, तो उत्तर और दक्षिण में कौन रहता है—

१. इन के काजी मुलां पीर पैगम्बर, रोजा पछिम निवाजा ।
इन के पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसी गंग दिवाजा ॥
तुरक मसीति देहुरै हिन्दू , दहूठो राम खुदाई ।
जहाँ मसीति देहुरा नाहीं, तहाँ काकी ठकुराई ॥"

वस्तुतः कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां ईश्वर नहीं है। ईश्वर सर्वव्यापक है। केवल सम्प्रदायवादी लोगों ने उसे मन्दिरों अथवा मसजिदों में सीमित कर रखा है। यह उनकी भारी भूल है—

२. "अलहु एक मसीत बसत है, अवर मुलख किस केरा ।
हिन्दू मूर्ति नाम निवासी, दुहुँ महि तत्त न हेरा ॥"

ईश्वर पत्थर की मूर्तियों में नहीं है। उसे पाने के लिये मूर्तिपूजा व्यर्थ है। मूर्तिपूजा वस्तुतः पत्थर की पूजा है

मूर्ति से चक्की अच्छी है जो आटा पीसने के उपयोग में तो आ सकती है। लोग उससे आटा पीस कर रोटी तो बना सकते हैं। और यदि पत्थर की पूजा से ही ईश्वर मिल सकता है तो फिर छोटी सी मूर्ति की पूजा क्यों की जाए ? क्यों न पहाड़ की पूजा की जाए, जो पत्थरों का घर है—

३. "पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार॥

मूर्ति न तो किसी का कुछ बिगाड़ सकती है। वह तो निर्जीव है। निर्जीव पदार्थ किसी का क्या सुधारेगा और क्या बिगाड़ेगा ? इस लिए उसे परमेश्वर मान कर उससे मुक्ति की आशा करना व्यर्थ है। इसी प्रकार उससे भयभीत होना भी अनुचित है, क्योंकि यदि वह किसी का अपकार कर सकती है तो पहले उसने अपने उस बनाने वाले का ही अपकार क्यों न किया जो उसे घड़ते समय उस की छाती पर सवार हो कर बैठा था।

और यदि मन्दिरों में जा कर मूर्तिपूजा का कुछ लाभ नहीं तो मसजिदों में जा कर अज़ान देना अथवा नमाज़ पढ़ना भी व्यर्थ है। उसका कुछ भी लाभ नहीं। मसजिद भी तो कंकर-पत्थर जोड़ कर ही बनाई जाती है। ईश्वर बहरा नहीं है कि उसे सुनाने के लिए मसजिद की छत पर चढ़ कर अथवा उस के आंगन में खड़े हो कर ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाना आवश्यक है। वह ईश्वर तो च्यूटी की पग-ध्वनि भी सुन सकता है, फिर उसे सुनाने के लिए चिल्लाने की क्या आवश्यकता है।

ईश्वर की प्राप्ति के लिये किये गये तीर्थ और व्रत अथवा

रोज़ा, नमाज़ और हज आदि भी सब व्यर्थ हैं यदि उनके पारण-स्वरूप आपस का वैर-विरोध ही बढ़ाना है, साम्प्रदायिकता को ही अपनाना है और जीव-हत्या का ही आश्रय लेना है। उस पण्डित को क्या पण्डित कहा जा सकता है जो स्नान करने, तिलक लगाने और विधिपूर्वक देव-पूजा करने के पश्चात् निर्दयता पूर्वक जीवहत्या करता है, भेड़ों और बकरियों को मारता है और वह भी मांस खाने के उद्देश्य से, जिह्वा के आस्वाद की पूर्ति के उद्देश्य से। उसे तो कसाई कहना चाहिये, पण्डित और ब्राह्मण नहीं। इसी प्रकार मुल्ला और काज़ी भी दिन भर रोज़ा रखने के पश्चात् और नमाज़ पढ़ने के पश्चात् यदि सन्ध्या को गोहत्या ही करते हैं तो वे ईश्वर को कभी नहीं पा सकते, ईश्वर उन पर कभी भी प्रसन्न नहीं हो सकता। हलाल हो या कुरबानी, वह जीव-हत्या ही है और केवल जिह्वा के स्वाद के लिए ही की जाती है। उसका धर्म के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। हिंसा करने वाले हिंसक अथवा हत्यारे ही कहलायेंगे, न कि धर्मात्मा और पुण्यात्मा।

उन दिनों मुसलमान लोग खुल्लमखुल्ला गो-वध करते थे। इसके दो कारण थे—एक तो मांस खाने का स्वभाव और दूसरा हिन्दुओं को चिढ़ाने की प्रवृत्ति। कबीर साहब ने इस कुप्रथा का ज़ोरदार शब्दों में विरोध किया। वे समझते थे कि यह कुप्रथा जहां एक ओर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्य की खाई को अधिकाधिक विस्तृत कर रही है वहां दूसरी ओर जघन्य और अधार्मिक भी है। उन्होंने मुसलमानों को गोहत्या करने से रोका और कहा—

"मैंने इस्लाम धर्म को खोज कर देखा है। कहीं गो-वध

की आज्ञा नहीं दी गई। यह कार्य केवल अज्ञान तथा स्वार्थ के कारण किया जाता है। गौ तो माता है। वह सब को दूध देती है भला उसकी हत्या क्यों की जाए ? ऐसा करना सर्वथा अनुचित है और ईश्वर इस प्रकार की जीवहत्या की आज्ञा कभी भी नहीं दे सकता।"

कबीर साहब का विचार था कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए जहाँ मूर्तिपूजा, तीर्थ, व्रत, मसजिद, नमाज़, रोज़ा, हज आदि व्यर्थ है वहां स्नान, तिलक, माला, तसबी आदि भी निष्फल हैं। इनका धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इनका सम्बन्ध केवल शारीरिक शुद्धि आदि से है। यदि आचार शुद्ध नहीं, व्यवहार शुद्ध नहीं, विचार शुद्ध नहीं तो केवल शरीर की शुद्धि से क्या हो सकता है, चाहे वह गंगा के जल से भी क्यों न हो। कबीर साहब ने इन की व्यर्थता बताते हुए लोगो को समझाया कि—

"स्नान आदि द्वारा शारीरिक शुद्धि केवल बाह्य शुद्धि है। इस से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। यदि आचार-विचार शुद्ध नहीं, अपने सहचरों के प्रति व्यवहार शुद्ध नहीं तो केवल बाह्य शारीरिक शुद्धि क्या महत्त्व रखती है। वह सर्वथा निष्फल है। और यदि केवल जल में स्नान करने से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है तो सदैव जल में रहने वाले मेंडकों और मछलियों को तो वह सब से पहले मिलनी चाहिये। यदि राम-नाम से प्रेम नहीं है तो सब को धर्मराज के पास जाना पड़ेगा और अपने कुकर्मों का फल पाना पड़ेगा। वहां स्नान आदि किसी काम नहीं आयेंगे।

"सन्ध्या प्रात इसनान कराहीं।
ज्यों भये दादुर पानी माहीं॥

जो पै राम नाम रति नाहीं।
ते सभि धरम राह के जाहीं ॥"

बाह्याचारों का खण्डन करते हुए कबीर जी ने मृतकों के लिए किए जाने वाले श्राद्ध, पिण्डदान आदि का भी खण्डन किया है। हिन्दू मृतकों के लिए श्राद्ध, तर्पण, पिण्डदान आदि करते हैं। मुसलमान भी मृतकों के नाम पर रोटी आदि देते हैं और उनकी कबरों पर चिराग़ जलाते हैं। कबीर इस प्रथा को केवल बाह्याचार समझते थे। उनका कहना था कि—

श्राद्ध, पिण्डदान आदि का कुछ भी लाभ नहीं और उनका करना सर्वथा निष्फल है। यह कोरा लोकाचार है। यह कितना बड़ा दम्भ है कि जब तक व्यक्ति जीवित होता है तब तक उसे पानी भी नहीं पूछा जाता, रोटी के नाम पर उसे गालियां दी जाती हैं, बुरा भला कहा जाता है, परन्तु मरने के पश्चात् उसके प्रति अगाध प्रेम जताया जाता है, उस के लिए तर्पण किया जाता है, उसके नाम पर श्राद्ध किया जाता है, ब्राह्मणों को भोजन खिलाया जाता है, कौओं और कुत्तों को बलियां दी जाती हैं। जब तक वह जीवित होता है तब तक तो उसे जूतों और डण्डों से पीटा जाता है, परन्तु जब वह मर जाता है तो उस के कल्याण के लिए उस की अस्थियों को गंगा में प्रवाहित किया जाता है। कितना बड़ा पाखण्ड है यह! इस पाखण्ड को छोड़ने में ही जनता का कल्याण है। और इस सम्बन्ध में हिन्दुओं वेदादि धर्म-ग्रन्थों अथवा मुसलमानों के क़ुरान शरीफ़ आदि धर्मग्रन्थों को उद्धृत करना अथवा उन्हें झूठा-सच्चा बताना भी अनुचित है, क्योंकि हम उनके सदाशय को समझते ही नहीं, वे झूठे नहीं हैं, झूठे तो हम हैं जो उन का भाव ही नहीं समझते। यदि हम अपने

स्वार्थों की सिद्धि के लिए उनके भावों और अर्थों को अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर लें तो उसमें उनका क्या दोष है ? दोष तो हमारा है । यही कारण है कि यदि छः दर्शन हैं तो छयानवें पाखण्ड खड़े कर दिये जाते है ।

"छह दरसन छ्यानवै पाखण्ड,
आकुल किनहु न जानां ।" (कबीर ग्रन्थावली, पृ. ९९)

उन्होंने आडम्बरप्रिय महन्तों, योगियों आदि का भी भण्डाफोड़ किया । उस समय साधुओं, महन्तों, योगियों आदि की अनेक श्रेणियां थीं जो अपने ढोंग और बाह्याडम्बरों द्वारा भोली-भाली जनता को धोखा देती थीं, उसे सच्चे धर्म के मार्ग पर चलने से रोकती थीं। कबीर ने उन्हें फटकारा और कहा—

"अरे इन महन्तों की ज्ञान की आँखें फूट गई हैं और इसीलिए ये सन्तों और असन्तों में भी भेद नहीं समझ सकते । इन्होंने दस-दस बीस-बीस नौकर-चाकर रखे हुए हैं और भोग-विलास में फंसे हुए हैं । इस पर भी ये महन्त बने फिरते हैं ? इनके ये आचार-व्यवहार क्या धर्म के लक्षण हैं या मुक्ति के साधन हैं ?

कुछ योगी और महन्त कान फड़वा कर मुद्रा पहनते हैं, कुछ लम्बी-लम्बी जटाएँ बढ़ा लेते हैं, कुछ बकरे के समान लम्बी-लम्बी दाढ़ी बढ़ाते हैं, कुछ जंगलों में जाकर धूनी रमाते हैं और इन्द्रियों की क्षमता को नष्ट करके हिजड़े बनने की चेष्टा करते हैं, कुछ दाढ़ी-मूंछ और सिर को बिलकुल सफ़ाचट करा के घोटमघोट बनते हैं । परन्तु उनसे पूछो कि क्या लम्बी-लम्बी जटाएँ और दाढ़ी रख लेने से अथवा सिर मुँडवा कर सफ़ाचट करा देने से वे मुक्ति पा सकते हैं । लम्बी

जटाओं अथवा सफ़ाचट सिर मुंडाने का मुक्ति के साथ क्या सम्बन्ध ? यदि लम्बी दाढ़ी रखने से ही मुक्ति मिल सकती है तो बकरे को वह सबसे पहले मिलनी चाहिये और यदि सिर मुँडाने से ही मुक्ति मिलती है तो बार-बार मूंडी जाने वाली भेड़ उसकी सबसे पहले अधिकारिणी है। ये केवल बाह्याचार हैं और इसलिए अनावश्यक हैं।"

उन्होंने जैनियों और शाक्तों को भी खरी-खोटी सुनाई और उन्हें अपने-अपने मिथ्याडम्बर छोड़ने के लिए कहा। शाक्तों से तो उन्हें विशेष चिढ़ थी और कदाचित् इसीलिए उन्होंने उनका खण्डन करने के लिए बड़े कठोर शब्दों का प्रयोग किया। उनका कहना था कि शाक्तों की संगति में भी रहना ठीक नहीं। उनके साथ की गई धर्म-चर्चा अथवा भक्ति-चर्चा वैसे ही व्यर्थ है जैसे कुत्ते को धर्म शास्त्रों की कथा सुनाना अथवा कौवे को कर्पूर खिलाना अथवा नीम के पेड़ को अमृत से सींचना। शाक्तों की संगति से जहाँ तक हो सके बचना चाहिये। शाक्तों की माता की संगति की अपेक्षा वैष्णवों की कुतिया की संगति भी अधिक अच्छी है।

भक्ति-प्रचार

महात्मा कबीर मूल रूप में भक्त थे और जनता में भक्त कबीर के नाम से प्रसिद्ध थे। समाज-सुधार का कार्य भी वे भक्ति के प्रचार के उद्देश्य से ही करना चाहते थे, उनकी रचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनके काव्य का अधिकांश भाग भक्तिभावना से ओत-प्रोत है। वस्तुतः, उनकी भक्तिभावना उनके हृदय की अन्यतम विभूति थी, उनके गुरु की दिव्य देन थी। इसी को पाकर कबीर बने थे और यही

आज भी भारतीयों के और विशेष कर हिन्दुओं के हृदय का हार है। इसी के आधार पर उन्होंने अपने समय की धर्म-प्राण जनता को "सिद्धों की विविध बीभत्स साधनाओं की दलदल से एवं नाथों की नीरस यौगिक प्रक्रियाओं के पंकिल गर्त से" बाहर निकाला था। उनकी यह भक्तिभावना उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर इतनी प्रबल और मार्मिक हो उठी हैं कि उसके सामने उनका दार्शनिक विवेचक का रूप तथा समाज-सुधारक का रूप गौण प्रतीत होने लगता है।

महात्मा कबीर अपनी भक्ति को नारदी भक्ति कह कर पुकारते थे जो सब प्रकार से मंगलकारिणी थी। उनकी नारदी भक्ति पर नारद-भक्ति-सूत्र, नारद-पाञ्च-रात्र, श्रीमद्भगवद्-गीता और श्रीमद्भागवत पुराण के भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव लक्षित होता है। नारद-भक्ति-सूत्र का अनुसरण करते हुए उन्होंने लोगों को समझाया कि भक्ति के बिना जप, तप, ज्ञान, ध्यान सब व्यर्थ है। भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ है। भावभक्ति के बिना और ईश्वरीय विश्वास के बिना संसाररूपी सागर को पार नहीं किया जा सकता, मुक्ति को नहीं पाया जा सकता।

कबीरदास अपने गुरु स्वामी रामानन्द के समान राम भक्ति के समर्थक थे, परन्तु उनका सगुण राम में विश्वास नहीं था। उन्हों ने निर्गुण, निराकार राम की भक्ति का प्रचार किया। उन के अनुसार ईश्वर का, राम का कोई स्वरूप नहीं, कोई आधार नहीं। उस का न मुँह है, न मस्तक है। न वह सुन्दर है और न असुन्दर। वह सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है। उसे भावभक्ति के द्वारा ही पाया जा सकता है।

कबीर साहब भावभक्ति के लिए प्रपत्ति के भाव को आवश्यक समझते थे। भक्तिक्षेत्र में प्रपत्ति का अर्थ होता है 'शरणागति' अर्थात् सब धर्म, कर्म और साधनों को छोड़ कर केवल भगवान् की शरण में जाना! वायुपुराण के अनुसार प्रपत्ति के छः अंग माने जाते हैं—आनुकूल्य का संकल्प, प्रातिकूल्य का त्याग, रक्षा का विश्वास, गुणकीर्तन, आत्म-निक्षेप और कार्पण्य। कबीर जी ने इन सभी अंगों का समर्थन किया और उन की रचनाओं में इन सब के उदाहरण मिलते हैं।

भावभक्ति के सम्बन्ध में कबीर जी ने नामस्मरण पर बहुत ज़ोर दिया और अपने अनेक पदों तथा साखियों में नाम की महिमा गाई। नाम की महिमा का गान करते हुए वे थकते नहीं थे। उन का कहना था कि उन के लिए नाम ही सब कुछ है; नाम ही उन की धनसम्पत्ति है। अपनी भावभक्ति के फलस्वरूप वे केवल नाम का वरदान चाहते थे, रामनाम का धन चाहते थे।

वे भावभक्ति के लिए गुरु की भक्ति को अनिवार्य समझते थे। उन्होंने लोगों को बताया कि गुरु की सेवा का बहुत बड़ा महत्त्व है। गुरु ही ज्ञान, प्रेम, भक्ति, विरह आदि तत्त्व दे कर शिष्य का उद्धार करता है। इसी लिए गुरु का स्थान ईश्वर से भी ऊपर है। गुरु की सेवा से ही भक्ति की कमाई हो सकती है। "गुरु सेवा से ही भगति कमाई।" अच्छा गुरु भी आसानी से नहीं मिलता। जब भगवान् की कृपा होती है तभी अच्छा गुरु मिलता है।

कबीर ने भक्ति के लिए वैराग्य और त्याग की भावना

को भी आवश्यक बताया। उन की भक्ति वैराग्यमूलक है। उन्होंने सब को बताया कि संसार नश्वर है और इसी लिए मिथ्या है। इस में रह कर आत्म-उद्धार के लिए त्याग और वैराग्य आवश्यक है। बिना वैराग्य के भक्ति दृढ़ नहीं होती। वैराग्य और त्याग की भावना को दृढ़ करने के लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, तृष्णा, विषय-भोग, कनक और कामिनी आदि का त्याग आवश्यक है; क्योंकि ये भक्ति के मार्ग की मुख्य बाधाएं हैं। वैराग्य की उपलब्धि के लिए सत्सङ्गति आवश्यक है।

उन्होंने बताया कि भक्ति-भावना किसी की विशेष सम्पत्ति नहीं हो सकती। हिन्दू हो या मुसलमान, स्त्री हो या पुरुष, बाल हो या वृद्ध, धनवान् हो या निर्धन, सभी उस के अधिकारी हैं। यह तो चौगान की गेंद की तरह है जिसे कोई भी खिलाड़ी ले जा सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि मानव जीवन के लिए भक्ति बहुत आवश्यक है। यह मुक्ति की सीढ़ी है। इस के बिना मानव का कल्याण सम्भव नहीं।

कबीर साहब ने नैतिकता का भी प्रचार किया। उनका कहना था कि मानव जीवन में आचार-विचार को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आचार-हीन पुरुष भक्ति और ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता। आचार-विचार की शुद्धि आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में वाञ्छनीय है और इसी लिए आवश्यक है। इस की भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में आवश्यकता है।

कबीर साहब ने नैतिकता की अवहेलना करने वालों की निन्दा की। वे प्रत्येक मानव के लिए शारीरिक, मानसिक

और बौद्धिक तीनों प्रकार की शुद्धि को आवश्यक समझते थे। उन का कहना था कि आत्मज्ञानी वही हो सकता है जिसे सत्य से प्रेम हो ; जो गुरु का भक्त हो ; जो निष्काम कर्म करता हो ; जो समाज का कल्याण चाहता हो ; जो सन्तोषी, संयमी और सुशील हो ; जो सावधान, प्रसन्न और निर्विकार रहे ; जो काम, क्रोध और लोभ आदि से दूर भागे ; जो सत्पुरुषों की संगति का इच्छुक हो और कुसंगति से बचना चाहता हो , जिस की इन्द्रियां उस के वश में हों और जो कनक और कामिनी के वश में न हो ; जो गम्भीरता, धैर्य, दया, सहानुभूति, निर्वैर, पर-सेवा और परोपकार को अपने स्वाभाविक गुण समझता हो ; जो किसी विशेष सम्प्रदाय में अन्धविश्वास न रखता हो। ऐसे आत्मज्ञानी को वे सच्चा शूरवीर कह कर पुकारते थे।

कबीर का देहावसान

इस प्रकार कबीर साहब लगभग सत्तर-अस्सी वर्ष तक भक्तिभावना, नैतिकता, आध्यात्मिकता और दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे और हिन्दुओं तथा मुसलमानों में प्रचलित रूढिवाद, बाह्याडम्बरों, अन्धविश्वासों और मिथ्या परम्पराओं का खण्डन करते रहे। निम्नजातीय हिन्दुओं और मुसलमानों पर उन के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा और वे धीरे-धीरे उन के अनुयायी बन गए। बघेल राजा वीरसिंहदेव और नवाब बिजली खां जैसे उच्चवर्गीय लोग भी उन के शिष्य बन गए।

उन की ख्याति, उन के विरोध और खण्डन तथा उन के अक्खड़ स्वभाव से कर्मकाण्डी पण्डित और शरियतप्रेमी मुल्ले

श्रौर क़ाज़ी उन से बहुत जलते थे। वे उन का विरोध करते थे, परन्तु उन की स्पष्टवादिता से घबराते भी थे। कबीर के खण्डनात्मक उत्तर-प्रत्युत्तरों के सामने उन की पेश नहीं चलती थी। फिर भी यथासमय श्रौर यथावसर वे उन्हें तंग करते रहते थे।

संवत् १५५३ विक्रमी में सुल्तान सिकन्दर लोदी काशी श्राया। कबीर के विरोधियों के लिए उन से बदला लेने का यह सुवर्ण श्रवसर था। उन सब ने मिल कर सिकन्दर लोदी के पास कबीर की शिकायत की। धर्मान्ध सुल्तान ने कबीर को मृत्यु दण्ड दिया। किंवदन्ती है कि सुल्तान की श्राज्ञा से उन्हें हाथी के पैरों में कुचले जाने के लिए फैंका गया, परन्तु हाथी ने उन का कुछ न बिगाड़ा। तब उन्हें ज़ंजीरों से बान्ध कर गंगा के श्रगाध जल में फैंक दिया गया, परन्तु वहां से भी बच गए। इस पर सुल्तान बहुत लज्जित हुश्रा श्रौर उन के व्यक्तित्व से प्रभावित हुश्रा। उस ने उन से क्षमा मांगी।

कबीर-विरोधियों ने तब एक श्रौर चाल चली। उन्हों ने सुल्तान के सामने प्रस्ताव रखा कि कबीर काशी को छोड़ कर मगहर में जा बसें। इस से उन का कर्मकाण्डी पण्डितों तथा मुल्लाश्रों के साथ संघर्ष स्वतः समाप्त हो जायगा। मगहर काशी से लगभग १०२ मील की दूरी पर स्थित है। उन दिनों लोगों में ऐसी धारणा थी कि "मगहर मरे सो गधा होय" यह प्रस्ताव वस्तुतः महात्मा कबीर के लिए, जिन्होंने जीवन भर रूढियों तथा श्रन्धविश्वासों का प्रबल विरोध तथा खण्डन किया था, एक चुनौती थी जिस से वह पीछे नही हट सकते थे। चुनौती को स्वीकार कर लिया श्रौर काशी को छोड़ कर मगहर चले गये।

मगहर पहुँच कर वे अधिक दिनों तक जीवित न रहे और उनका देहान्त हो गया। कबीर पन्थियों में किवदन्ती प्रसिद्ध है कि उन के शव के विषय में हिन्दुओं तथा मुसलमानों में झगड़ा खड़ा हो गया। बघेला राजा वीरसिंह देव और उसके साथी उनका हिन्दू-रीति के अनुसार दाह-संस्कार करना चाहते थे, परन्तु नवाब बिजली खां तथा अन्य मुसलमान उन्हें मुसलमान रीति के अनुसार दफ़नाना चाहते थे। उस समय एक आकाशवाणी हुई जिस ने शव के ऊपर की चादर उठाने का निर्देश किया। जब चादर उठाई गई तो वहां शव नहीं था, वरन् उस के स्थान पर थोड़े से फूल पड़े थे। वे हिन्दुओं और मुसलमानों ने परस्पर आधे-आधे बांट लिए। हिन्दुओं ने अपने हिस्से के फूलों का दाहसंस्कार किया और चिता के स्थान पर कबीर साहब की समाधि बना दी। मुसलमानों ने अपने हिस्से के फूलों को दफ़नाया और उनकी कबर पर रोज़ा बना लिया। मगहर में समाधि और रोज़ा अब भी पास-पास बने हुए हैं।

यह किवदन्ती कहां तक ठीक है, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु इस से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों ने उन्हें समान रूप से अपना धार्मिक और सामाजिक नेता स्वीकार कर लिया हुआ था।

कबीर के दार्शनिक विचार

कबीर ब्रह्मवादी थे और अद्वैत ब्रह्म में पूर्ण आस्था रखते थे। उनके मतानुसार ब्रह्म एक है। राम, रहीम, अल्ला, निरंजन आदि उसी के नाम हैं। उसका न कोई रूप है और

न कोई आकार है। वह सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है वह निर्गुण और सगुण से परे है, ज्योतिस्वरूप है और उसी से चराचर संसार की सृष्टि हुई है। सूर्य, चन्द्र आदि में उसी का प्रकाश है। संसार के सभी सजीव एवं निर्जीव पदार्थ उसी के रूप हैं। सब के अन्दर वही खेल कर रहा है। वह खालिक ही इस सारी सृष्टि में समाया हुआ है।

उस अव्यक्त और अनन्त ब्रह्म का वर्णन कबीर ने विभिन्न रूपों में किया है, जैसे—उपनिषदों के अनादि, अनन्त और सर्वव्यापक ब्रह्म के रूप में, योगियों के द्वैताद्वैत विलक्षण ज्योति रूपी ब्रह्म के रूप में, सूफ़ियों के नूर के रूप में, शङ्कराचार्य के अद्वैत ब्रह्म के रूप में, शब्द ब्रह्म के रूप में, शून्य के रूप में, अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में, परात्पर के रूप में और सहज के रूप में।

कबीर साहब ने आत्मा का निरूपण बहुत कुछ गीता के अनुकरण पर किया है, परन्तु साथ ही उसकी ब्रह्म से एकरूपता भी ध्वनित की है। उनके अनुसार आत्मा और विश्वात्मा मूलतः एक ही हैं, किन्तु शरीर-बद्ध होने के कारण आत्मा विश्वात्मा से भिन्न प्रतीत होने लगता है। घड़े और जल के उदाहरण से अथवा जल और बर्फ के उदाहरण से इस भेद को समझा जा सकता है।

घड़ा जल में रखा हो तो उसके अन्दर और बाहर पानी रहता है। घड़े के अन्दर का जल बाहर के जल से भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु जब घड़ा फूट जाता है तो अन्दर और बाहर का जल मिल कर एक हो जाता है। उस की पृथक्ता मिट जाती है। इसी प्रकार जल जम कर बर्फ बन जाता है

और पिघल कर फिर जल में परिवर्तित हो जाता है। अथवा जैसे जल से तरंग उत्पन्न होती है और फिर जल में विलीन हो कर जल हो जाती है। इसी प्रकार जब जीवात्मा माया-जन्य पृथक्ता को तोड़ कर विश्वात्मा में लीन हो जाता है तो वह विश्वात्मा अथवा परमात्मा ही बन जाता है।

आत्मा और परमात्मा की एकरूपता वस्तुत: अद्वैतवाद का प्राण है। इस लिए अद्वैतवादी महात्मा कबीर ने स्वभावत: ही आत्मा का निरूपण ब्रह्म के ढंग पर किया है। आत्मा को परमात्मा से अलग करने वाली माया है। माया सत्य पुरुष अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न होती है। वह संसार की सृजन शक्ति है। वह दो प्रकार की है—सत्य और मिथ्या अथवा विद्या-मूलक और अविद्यामूलक। सत्य माया ईश्वर की प्राप्ति में सहायक होती है, परन्तु मिथ्या माया आत्मा और परमात्मा के मिलने में बाधा उपस्थित करती है। वह त्रिगुणात्मक है और जन्म, पालन तथा संहार करने वाली है। वह ठगिनी और सांपिनी है और इस लिए त्याज्य है।

महात्मा कबीर का यह माया का वर्णन शंकराचार्य के अनुकरण पर है।

जगत् के सम्बन्ध में महात्मा कबीर ने भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये हैं। एक स्थान पर शंकरा-चार्य के सिद्धान्त 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' का अनुकरण करते हुए उन्होंने नामरूपात्मक संसार को मिथ्या माना है और उसे ब्रह्मतत्त्व में आधारित स्वीकार किया है। इसी मत का समर्थन करते हुए उन्होंने जगत् को सेमर के फूल के समान अथवा स्वप्न के समान बताया है।

जगत् की उत्पत्ति का वर्णन उन्होंने ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के अनुकरण पर किया है। उनका कहना है कि सृष्टि से पूर्व जब कुछ भी नहीं था उस समय भी निर्गुण तत्त्व विद्यमान था, किन्तु उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक स्थान पर उन्होंने जगत् की उत्पत्ति ओंकार से बतलाई है। एक और स्थान पर उन्होंने सृष्टि के लयक्रम का वर्णन सांख्यदर्शन के गुण परिणामवाद के अनुकरण पर किया है।

कबीर का प्रभाव

मध्य युगीन भक्तों, विचारकों और सुधारकों में तथा निर्गुणपन्थी साधकों में महात्मा कबीरदास का स्थान अद्वितीय है। पिछले लगभग एक हजार वर्षों के इतिहास में उन जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक अथवा साधक उत्पन्न नहीं हुआ। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव, स्पष्टवादिता और सर्वजयी तेज ने कबीर को अद्वितीय व्यक्ति बना दिया था। उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था, विचार इतने प्रभावजनक थे, भक्ति-भावना तथा रहस्य-साधना इतनी आकर्षक थी कि उनके परवर्ती प्रायः सभी भक्त और सन्त, विशेष कर निर्गुणवादी सन्त उनसे प्रभावित प्रतीत होते है। उन पर कबीर का व्यापक प्रभाव है, उनकी वाणी में कबीर की वाणी सुनाई देती है, उनकी रचनाएँ कबीर की विचारधारा से अनुप्राणित प्रतीत होती है।

महात्मा कबीर से प्रभावित पन्थों और विचारकों में नानक पन्थ, दादू पन्थ, जग्गू पन्थ, सतनामी पन्थ, दरिया पन्थ, पलटू पन्थ, लालदासी सन्त, नारायणी और गरीबदासी सन्त, प्राणनाथी सन्त, धरणीदास, चरणदास, सहजोबाई, दयाबाई,

राधास्वामी पन्थ आदि प्रमुख हैं। मुसलमान विचारकों में से, जो कबीरदास से प्रभावित हुए है, यारी साहब, बुल्ला साहब, दरिया साहब (बिहार वाले) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत से पन्थों ने धीरे-धीरे सामान्य हिन्दूमत के प्रभाव से साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लिया है।

गुरुनानक देव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे कई महीनों तक महात्मा कबीर के सत्संग में रहे थे और उन के विचारों से प्रभावित थे। उनकी रचनाओं में कबीर का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यहां तक कि कबीर के देहावसान की चमत्कार पूर्ण कथा उन के देहावसान के साथ भी जोड़ दी गई है। गुरु अर्जुनदेव ने गुरु ग्रन्थ साहब का संकलन करते समय प्राचीन सन्तों की वाणियों में कबीर की वाणी को सब से अधिक स्थान दिया है। गुरु ग्रन्थ साहब में कबीर के २२७ पद और २४० दोहे (साखियां) संगृहीत हैं। इसी प्रकार दादू पन्थ, पलटू पन्थ, राधास्वामी पन्थ आदि के धर्मग्रन्थों में भी कबीर के पद और दोहे (साखियां) बहुत बड़ी संख्या में संगृहीत हैं। दादू की विरहभावना में कबीर की विरहभावना झलकती है और उनके 'प्रतिव्रता को अंग' को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया जा सकता है। इसी प्रकार सहजो बाई के नाम-स्मरण, दयाबाई की प्रेम-दीवानगी में कबीर की प्रेम-दीवानगी और मस्ती, बीरू साहब के वैराग्य और त्याग में कबीर की वैराग्यभावना, चरणदास के नामस्मरण और प्रेममानव में कबीर का नाम-स्मरण और प्रेमभाव, बुल्ला साहब के प्रियमिलन में कबीर का प्रियमिलन और तुलसी साहब के सुरतियोग में कबीर का सुरतियोग दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार परवर्ती मध्ययुगीन सन्तसमाज पर महात्मा कबीर का गहरा और व्यापक प्रभाव है।

कविता के क्षेत्र में भी महात्मा कबीर का उत्तरवर्ती कवियों पर और विशेष कर रहस्यवादी कवियों पर गहरा प्रभाव है। प्रायः सभी निर्गुणवादी सन्त कवियों ने अपनी रहस्यवादी रचनाओं में उन्हीं की शैली और विचार-परम्परा को अपनाया है। आज के रहस्यवादी कवियों पर भी, जिन में स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं, इनका गहरा प्रभाव है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'पोइमस आफ कबीर' के नाम से उनके एक सौ पदों का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी प्रकाशित किया था और उसके लिए ४४ पृष्ठों की भूमिका भी लिखी थी। इसमें उन्होंने कबीर को भारतीय रहस्यवाद के इतिहास का एक दिलचस्प व्यक्ति बताया है और उनकी सन्त आगस्टीन, रिसब्रेक तथा सूफ़ी कवि जलालुद्दीन रूमी से तुलना की है। वे लिखते हैं—"कबीर उन थोड़े से महान् रहस्यवादियों में से हैं जिन में सब से मुख्य सन्त आगस्टीन, रिस्ब्रेक, सूफ़ी कवि जलालुद्दीन रूमी हैं, ये ऐसे लोग है जिन के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उन्होंने ईश्वर का समन्वयात्मक दर्शन (सिन्थिटिक विज़न ऑव गॉड) प्राप्त कर लिया।" गीताञ्जलि के अध्येता उन की उपनिषदों तथा कबीर के पदों के साथ तुलना करने पर स्पष्ट जान सकते हैं कि रवीन्द्रनाथ पर कबीर का कितना प्रभाव है।

इस प्रकार महात्मा कबीर का अपने समय तथा अपने बाद के भारत के इतिहास के निर्माण में गहरा हाथ रहा है। वे एक बहुत बड़े युग-पुरुष थे, नवोदय के अग्रदूत थे, जिन्हों ने भारतीय समाज के श्रेय के लिए अथक सिपाही के रूप में कार्य किया।

"जिन दुनिया में रची मसीद, झूठा रोज़ा झूठी ईद।
सांचा एक अल्ला को नाम, ता को नय नय करो सलाम।
कहु धौ भिस्त कहां ते आई, किस हेतु तुम छुरी चलाई॥"

"तुरकी धर्म बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा।
गाफिल गरब करै अधिकाई, स्वारथ अरथ वधैं ए गाई॥
जा को दूध धार करि पीजै ता माता को वध क्यूं कीजै॥"

कबीर हज काबे हउ जाई था आगे मिलिया खुदाई।
सांई मुझ सिउ लरि परिआ तुझै किन फुरमाई गाई॥"

"मथे तिलक हथि माला बाना।
लोगनि राम खिलौना जाना॥"

"माला पहिरै टोपी पहिरै,
छाप तिलक अनुमाना।
साखी सब्दै गावत भूलै,
आतम खबर न जाना॥"

"माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मन माहिं।
मनुवां तो दहुं दिसि फिरै यह तो सिमरन नाहिं॥"

"पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है।
अन्तर तेरे कपट कतरनी सो भी साहब लखता है॥'

"तापै कहिये लोकाचार वेद कतेब कथैं व्योहार।
जारि बारि करि आवै देहा, मुंवां पीछे प्रीत सनेहा॥

जीवत पित्रहि मारहि डंडा, मुंवां पितृ लै घाले गंगा।
जीवत पित्र कूं अन्न न ख्वावैं, मूंवां पाछैं प्यण्ड भरावैं॥

जीवत पित्र कूं बोलैं अपराध, मूवां पीछे देहि सराध।
कहि कबीर मोहि अचिरज आवै, कऊवा खाइ पित्र क्यूं पावै ॥"

"वेद कतेब कहौ जिनि झूठा,
झूठा सो जो न जानै।"

"फूटी आंख विवेक की लखै न सन्त असन्त।
जा के संग दस बीस हैं ताको नाम महन्त ॥"

"कनवा फराय जोगी जटा को बढ़ाय जोगी।
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैले बकरा ॥
जंगल जाय जोगी धूनियाँ रमौलै जोगी।
काम जराय जोगी बनि गैले हिजरा ॥"

"मूंड मुंडाय हरि मिले, सब कोई लेइ मुंडाय।
बार-बार के मूंडते भेड़ न बैकुण्ठ जाय ॥"

मूंड मुंडाये जो सिधि होई।
स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई ॥"

"जब लग भाव भगति नहीं करिहौं,
तब लग भवसागर क्यों तरिहौं।"

"झूठा जप तप झूठा ज्ञान,
राम नाम बिन झूठा ध्यान।"

"चन्द्र सूरज हुई जोति सरूप।
ज्योति अन्तर ब्रह्म अनूप ॥
सूरज चन्द्र का एक ही उजियारा।
सब महि पसरा ब्रह्म पसारा ॥"

"इन में आप आप सबहिन मैं आप आप सूं खेलै ।
नाना भांति घड़े सब भांडे रूप धरे धरि मेलै ॥"

"लोगा भरमि न भूलहु कोई ।
खालिक खलक खलक महि खालिक पूरि रह्यौ सब ठाई ।"

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है
बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना
यह तथ्य कथ्यो गियानी ॥"

"पाणी ही हिम भया हिम ह्वै गया विलाय ।
जो कुछ था सोई भया अब कुछ कह्या न जाय ॥"

"जल तरंग जिमि जल तें उपजै,
फिरि जल मांहि रहाई ।
काया भाईं पांच तत्त की,
विनसे कहां समाई ॥"

"मैं सबनि मैं औरनि मैं हू सब,
मेरी विलगि-विलगि विलगाई हो,
कोई कहै कबीर कोई कहै रामराई हो ॥"

"ना इहु मानुष ना इहु देवा । ना इहु जती कहावै सेवा ॥
ना इहु जोगी ना इहु अवधूता । ना इस माई न काहू पूता ॥
ना इहु गिरही ना ओदासी । ना इहु राजा ना भीख मंगासी ॥
ना इहु पिण्ड न रक्तु राती । ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती ॥
ना इहु तपा कहावै सेख । ना इहु जीवे मरत देख ॥
इसु मरते कौ जो कोई रोवे । जो रोवै सोई पति खोवे ॥"

"जो तुम देखा सो यह नाहीं,
यह पद अगम अगोचर माहीं।"

"यौ ऐसा संसार है जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के व्योहार को झूठे रंग न भूल॥"

नरसी महेता

[१४१५–१४८०]

●

श्रीपाद जोशी

प्रास्ताविक

हमारे देश के प्राचीन सन्तों के नाम अपने अपने प्रदेशों की सीमाओं को लाँघ कर सारे देश भर में पहुँच चुके हैं। इसी लिए मराठीभाषी जनता के लिए सूर, तुलसी, कबीर, मीरा के नाम वैसे ही परिचित एवं प्रिय है जैसे कि ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, एकनाथ के। इसी तरह हिन्दीभाषी जनता की दृष्टि में नामदेव, तुकाराम, चैतन्य महाप्रभु आदि सन्त कोई पराये नहीं रहे हैं। गुजारती भाषा के सन्त नरसी महेता के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। सारे भारतवर्ष में नरसी महेता का नाम परिचित है। आधुनिक काल में यह नाम विशेष जन-परिचित हो गया है। इसका श्रेय प्रधानतया राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी जी को है। गांधी जी पर बचपन से ही सन्त नरसी महेता के जीवन एवं काव्य का प्रभाव पाया जाता हैं। उन का एक भजन तो गांधी जी का जीवन-साथी बन गया था ; और इस कारण सारे देश ने उस भजन को अपना लिया। आज भी वह भजन अनेकों अ-गुजराती गायकों एवं साधारण लोगों द्वारा गाया जाता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'जन गण मन' शीर्षक गीत के समान नरसी महेता का यह भजन एक तरह से राष्ट्रीय भजन बन गया हैं। इस भजन में जो बातें बतायी गयी हैं वे सार्वकालीन हैं और मनुष्य के चरित्र-गठन की नींव ही उसपर आधारित है। नरसी महेता के जीवन की कुंजी भी इसी भजन में है, अतः उनकी जीवनी का परिचय देने से पहले हम यहाँ वह भजन उद्धृत करते हैं।

वैष्णव-जन तो तेने कहीए, जो पीड़ पराई जाणे रे।
पर दु:खे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणेरे ॥ ॥

सकल लोक मां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे ॥२॥

सम दृष्टि अने तष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर धन नव झाले हाथ रे ॥३॥

मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे।
राम नाम शुं ताळी रे लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे ॥४॥

वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्यां रे।
भणे नरसैयो तेनुं दरशन कर तां, कुळ एको तेर तार्यां रे ॥५॥

अर्थात् वैष्णव जन उसी को कहना चाहिए जो दूसरे के दुःखों में उस पर उपकार तो करता है, पर मन में अहंकार नहीं लाता। वह सारे संसार में सब की वंदना करता है, किसी की भी निन्दा नहीं करता। वह अपने मन, वाणी एवं चरित्र (शील) को दृढ़ रखता है। उसकी माता धन्य है।

जो सब को समान दृष्टि से देखता है, जिसने तृष्णा का त्याग किया है, जिसके लिए परस्त्री माता के समान है, जो अपनी जिह्वा से असत्य नहीं बोलता, जो पराये धन को स्पर्श नहीं करता, जिसे मोह-माया नहीं भुला सकती, जिस के मन में दृढ़ वैराग्य है और जिसपर राम नाम की धुन सवार हुई है, उसके शरीर में सब तीर्थों का वास है। जो लोभ-रहित है, जिसके मन में कपट नहीं है, जिसने काम-क्रोध का त्याग किया है, नरसी महेता कहते हैं, ऐसे वैष्णव जन के दर्शन से इकहत्तर पीढ़ियां तर जाती हैं।

जन्म एवं बचपन

नरसी महेता का वास्तविक नाम नरसिह महेता था; परन्तु अपनी कविता में उन्होने 'नरसैयो' शब्द का ही प्रयोग किया है और जन-साधारण में वे नरसी महेता के नाम से ही परिचित हैं, अतः हमने भी 'नरसी महेता' शब्द को ही अपनाया है।

भारत के अधिकांश साधुसन्तों की तरह नरसी महेता के समय के विषय में विद्वानों में अनेक मत-मतांतर पाये जाते हैं, परन्तु साधारणतया उनका काल सन् १४१५ ईसवी से सन् १४८० ईसवी तक (सवत् १४७० से १५३६ तक) का समझा जाता है। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी जी ने अनेक प्रकार के सबूत पेश करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया हैं कि नरसी महेता का जन्म संवत् १५३० से लेकर १५८० के बीच हुआ था, परन्तु हम इतना कह सकते हैं कि नरसी महेता ईसा की पंद्रहवी शताब्दि में हुए थे।

उनके जीवन के विषय में भी कोई ठोस आधार नहीं मिलते, हाँ, कुछ दत-कथाएँ अवश्य प्रचलित है और उन्हीं के आधार पर उनकी जीवनी का चित्र दिया जा सकता है।

नरसी महेता का जन्म सौराष्ट्र (गुजरात) के तळाजा नामक गाँव में वडनगरा नागर जाति में हुआ था। उनकी रचना में एक जगह उल्लेख आया है।

गाम तळाजा मां जन्ममारो थयो। (अर्थात् मेरा जन्म तळाजा गाँव में हुआ)।

यह बालक बड़ा आभागा समझा गया क्योंकि उसकी तीन वर्ष की उम्र में उसके पिता कृष्णदास का देहांत हो गया और

ग्यारह वर्ष के होते होते माता दयाकुँवर भी चल बसीं। तब अपने चाचा पर्वतदास के अभिभावकत्व में वह बड़ा होने लगा, आगे चल कर वह अपने भाई बंसीधर के साथ जूनागढ़ आ गया और फिर अन्त तक वहीं रहा।

नरसी महेता के जीवन पर उनकी भाभी के व्यवहार का बहुत प्रभाव पड़ा। संभव है, उनके भाई बन्सीधर सगे नहीं, किन्तु चचेरे भाई हों और इस प्रकार उनकी भाभी को उनसे कोई प्रेम न रहा हो। नरसी का आचार-विचार उनकी भाभी को बिलकुल पसन्द नहीं था, इस लिए वे उन्हें सदा जली-कटी सुनाती रहती थीं।

लिखने-पढ़ने की ओर अरुचि

गुजरात के नागर ब्राह्मण बड़े चतुर, व्यवहार-कुशल एवं होशियार समझे जाते हैं। परन्तु नरसी महेता में ये गुण दिखाई नहीं देते थे, यद्यपि वे पाठशाला में जाकर संस्कृत तथा गुजराती सीखते थे, फिर भी लिखने-पढ़ने की ओर उनकी विशेष रुचि नहीं थी। सम्भव है, उनकी बुद्धि पढ़ाई में न चलती हो, पैसा कमाने का तो विचार ही उनके मन में नहीं आता था, जब कि पुरुष का मूल्य उसकी कमाई के हिसाब से ही निर्धारित होता था, इसलिए भी उनकी भाभी को उन पर क्रोध आता हो। वे चाहती थी कि देवर जी नागर ब्राह्मणों के शिष्टाचार सीखें, उनकी तरह विद्वान् बनें और खूब धन कमायें। पर नरसी के कानों पर जूं नहीं रेंगती थी।

साधुसंग बैठ बैठ लोक-लाज खोई।

सांसारिक बातों में नरसी का जी लगता ही नहीं था। उन्हें तो साधुसन्तों का सहवास प्रिय था, जैसे ही कोई साधु

मंडली शहर में आ जाती, नरसी महेता सारा काम-काज छोड़ कर उसकी सेवाओं में लग जाते। फिर तो उन्हें घर-बार या खाने-पीने की भी सुधि न रहती, जहाँ कहीं भजन-कीर्तन चल रहा हो, वहाँ नरसी पहुँच जाते और सारी रात वहीं बैठे रहते और भजन में सम्मिलित होते। राधाकृष्ण की रास-क्रीड़ा उन्हें विशेष प्रिय थी। इस रास में जब वे भाग लेते तो अपने को राधा समझ कर उस भूमिका में बिलकुल एक-रूप हो जाते। उस रास की मस्ती घण्टों तक उन पर छायी रहती। उस स्थिति में वे अपने से ही बातें करते रहते और कभी-कभी रास्ते में ही भावविभोर हो नाचने लगते।

विवाह से कोई अन्तर नहीं पड़ा

संभवतः नरसी महेता को साँसारिक बनाने के लिए उनके भाई ने बचपन में ही उनका विवाह माणेक महेती के साथ करा दिया था, परन्तु पत्नी का द्विरागमन होने के बाद भी नरसी महेता के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया। वे तो साधु सन्तों की मंडलियों में बैठ कर भजन सुनते, गीत गाते और नृत्य करते। इस लिए बेचारी माणेक बहू को भी भाभी के उलाहने सुनने पड़ते। माणेक महेती बड़ी ही पति-भक्ति-पारायण थीं, इसलिए अपने विचित्र पति को भी देवता समझ कर वह पूजती थीं। उन्हें अपनी चिंता नहीं थीं, पर भाभी द्वारा अपने पति को सुनायी जाने वाली जली-कटी बातों से उन्हें बड़ा दुःख होता था। जब नरसी महेता देर-अबेर घर लौटते तो उन की भाभी उन्हें ठंडा या बासी खाना परोस देती थीं। वह सब देख कर माणेक महेती का दिल फट जाता, अपने पति का अपमान देख-सुन कर उनका हृदय रो

उठता, पर बेचारी करती तो क्या करती ? बेबस थीं, इस लिए सब कुछ सहती जातीं। उन्होंने भी अपने पति को कुछ काम-धंधा करने के लिए बहुत समझाया बुझाया, पर नरसी महेता के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

ईश्वर की खोज में

इसी प्रकार दिन बीतते रहे। इस बीच नरसी महेता एक लड़की के पिता हो गये। बच्ची का नाम कुँवरबाई रखा गया। लोगों ने समझा, अब नरसी कुछ कमाने लगेंगे। पर उनके आचार-व्यवहार में इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। भाभी जी और अधिक जलने लगी।

एक दिन की बात है। कोई साधु-मंडली शहर में आई हुई थी। उसके साथ भजन-कीर्तन करने में नरसी महेता ऐसे रम गये कि उन्हें समय का ध्यान ही नही रहा। आधी रात बीत जाने पर जब भजन की धुन कम हो गयी तब वे घर लौटे। घर के सब लोग सो गये थे। केवल माणेकबाई जाग रही थीं। उन्होंने धीरे से किवाड़ खोले, पर उतनी ही आहट से भाभी जाग गयीं। नींद में बाधा पड़ने से आपे से बाहर हो गयीं और उन्होंने देवर को ऐसे आड़े हाथों लिया कि वे देखते ही रह गये। उस तीव्र आघात के कारण वे भोजन भी न कर सके और दूसरे दिन प्रातः उठ कर घर छोड़ कर चले गये, जबकि सब लोग अभी मीठी नींद सो रहे थे। इसका वर्णन वे इस प्रकार करते हैं:—

मर्म वचन कह्यां मुज ने भाभीए, मारा मनमां रह्यां वळुंधी रे।
भाभीए मूरख कहो महेणुं दीधुं, ते वचन वाग्युं ।।

भाभी ने मुझे जो मर्म वचन सुनाये वे मेरे मन में घर

कर गये। भाभी ने मुझे मूर्ख कह कर जो ताना दिया उसने मुझ पर बड़ा आघात किया।

'अपूज शिवलिंग' की पूजा

भाभी के व्यंग्यों से ग्लानि पाकर नरसी महेता घर से जो निकले तो सीधे घने जगल की ओर चल दिये। अब उन्हें अपने जीवन से भी कोई मोह नहीं रहा। जूनागढ़ शहर गिरनार (रैवतक) पर्वत की तलहटी में बसा हुआ है। यहाँ से समीप ही गिरनार का डरावना अरण्य है। आज भी यह अरण्य सिंहों के लिए प्रसिद्ध है। उन दिनों तो वह और भी अधिक घना एवं भयावना था। शेर-चीतों से भरे उस जंगल में किसी भी क्षण वे किसी हिंस्र जन्तु के शिकार बन सकते थे। हो सकता है, वे यही चाहते हों। घूमते-घामते वे एक ऐसी जगह पहुँच गये जहाँ एक बहुत ही पुराना, टूटा-फूटा शिवमन्दिर था। मन्दिर भले ही भग्न हो, पर उसके अन्दर का शिवलिंग अभंग, अखण्ड था। वर्षों से उसकी पूजा नहीं हुई थी। सब तरफ पशु-पक्षियों का मल-मूत्र पड़ा हुआ था। उसकी दुर्गंधि से मस्तिष्क भन्ना जाता था। पर नरसी महेता इन सब बातों को भूल गये और भगवान् के ध्यान में मग्न हो गये। जब पहला आवेश उतर गया तो उन्होंने कपड़े उतारे, सारा मन्दिर साफ कर दिया, पास कुंड में जाकर नहाये और बेल-फूल से पूजा की। उन्होंने ईश्वर से कहा, 'हे भगवान्, जब तक आप प्रसन्न होकर मुझे दर्शन नहीं देंगे तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा। इसी अवस्था में पड़ा रहूँगा।' यह कहते हुए वे अपने आँसुओं से शिवजी का अभिषेक करने

लगे। इस प्रसंग का वर्णन करते हुए उन्होंने एक जगह लिखा है—

एक अपूज शिवलिंग, वन मांहे जई पूजन कीधुं।

वन में एक शिवलिंग था जिसकी पूजा वर्षों से नहीं हुई थी। मैंने वहाँ जाकर उसकी पूजा की।

किंवदन्ती है इस स्थिति में सात दिन और सात रातें बीत गयीं। भूख और प्यास के कारण नरसी महेता का शरीर सूखने लगा। पर उन्हें उसकी चिन्ता कहाँ? वे तो बस अपने निश्चय पर डटे रहे। अन्त में शिवजी को ही हार माननी पड़ी। अपने भक्त की प्रीति एवं निष्ठा को देखकर प्रसन्न हुए और उन्हें दर्शन देकर मन चाहा वर माँगने को कहा। अब तक नरसी महेता उन सांसारिक बातों को, भाबी के तानों को, भूल चुके थे जिनके कारण वे जंगल पहुँचे थे। उन्होंने शिवजी से कहा—

तम ने जे वल्लभ होय जे दुर्लभ,
आपो रे प्रभु जी मुने दया रे आणी।

हे प्रभु, आपको जो प्रिय हो वही मुझे दे दीजिए।

भगवान् शंकर जान गये थे कि उनका भक्त कृष्ण जी की रासलीला देखना चाहता है, अतः 'तथास्तु' कह कर वे नरसी को अपने साथ द्वारका ले गये‡।

---

‡कुछ लोगों के मत में एक जटाधारी ब्राह्मण नरसी महेता को द्वारका ले गया और उसने उन्हें वहाँ रासलीला दिखाई। इस ब्राह्मण को ही उन्होंने शिवजी माना।

रासलीला का दर्शन

द्वारका में श्रीकृष्ण महाराज की रासलीला चल रही थी। गोपियों के बीच कृष्ण जी रास-नृत्य कर रहे थे। नरसी महेता भी गोपी का वेष धारण करके उस रास-लीला में सम्मिलित हो गये। मशाल पकड़ने वाला व्यक्ति बीच बीच में नरसी के हाथ में मशाल थमा देता था। मशाल पकड़े नरसी महेता रास देखने में इतने तल्लीन हो जाते कि मशाल का तेल और उसके साथ ही मशाल की लपट उनके हाथों पर उतर कर उनके हाथ को जलाने लगती, तो भी उन्हें उसका कोई भान नहीं होता था। उनकी इस तल्लीनता से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने उन्हें भक्तिरस का पान कराया और उन्हें आज्ञा दी कि, 'जैसी रासलीला तुमने यहाँ देखी, उसका गान करते हुए संसार के स्त्री-पुरुषों को भक्तिरस का पान कराओ।'

तब नरसी महेता की प्रतिभा काव्य रूप में बहने लगी रासलीला का वर्णन करने वाले उनके भजनों ने लोगों को मोह लिया और आगे चल कर गुजराती भाषा को समृद्ध बनाया।

यह सारी भगवान् की कृपा थी। उसे वे कैसे भूल सकते थे ? एक स्थान पर उन्होंने लिखा है :—

मैं अनाथ था ; मुझे पार्वती नाथ ने सनाथ बनाया। मेरे मस्तक पर हाथ रख कर उन्होंने मुझे दिव्य चक्षु प्रदान किये।

अनाथ हुँ ने नाथ कीधो, पार्वती ने नाथ।
दिव्यचक्षु आथां मुज ने, मस्तक मेल्यो हाथ॥

नरसिंह यह भी भूले नहीं थे कि भाभी जी के मर्म वचनों के कारण ही वे जंगल पहुँचे थे और शिवजी के दर्शन प्राप्त

कर सके थे। इसलिये उन्होंने अपनी भाभी को भी धन्यवाद दिये :—

भाभी तुम धन्य हो, धन्य हैं माता-पिता, तुम ने मेरे कष्टों को जान कर मुझ पर दया की। तुम्हारी कृपा के कारण ही हरिहर से मेरी भेंट हुई और कृष्ण जी ने मेरी सहायता की।

धन्य भाभी तमे, धन्य माता-पिता।
कष्ट जाणी मने दया रे कीधी॥

तमारी कृपा थकी हरिहर भेटिय।
कृष्णजीए मारी सार कीधी॥

अन्त में भगवान् के आदेश को शिरोधार्य करके जन-साधारण में भक्ति की नदी बहाने के लिये नरसी महेता जूनागढ़ लौटे।

घर लौट आये

उधर जूनागढ़ में नरसी महेता के घरवालों ने उनकी बहुत खोज की, पर कोई भी उनका अता-पता न बता सका, इसलिए सब लोग निराश होकर बैठ गये। उनकी भाभी को अपनी कही बातों पर पछतावा होने लगा। माणेकबाई की आंखों से सदैव अश्रुधारा बहने लगी। भाई जब तब अपनी स्त्री को बुरा भला कहने लगे। साराँश यह कि घर की शांति नष्ट हो गयी। सब लोग ईश्वर से प्रार्थना करने लगे कि किसी तरह नरसी महेता लौट आये।

अतः जब नरसी घर पहुँचे तो सबने बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया। भाई साहब अपनी पत्नी को दोष देने लगे। तो नरसी महेता उनसे बोले :—

भाभी जी ने मुझसे कठोर वचन कह कर मेरा भाग्योदय ही किया। उनकी बातों से ही नरसैंयो निर्भय बना और उसे भगवान मिल गये।

अलग घर बसायाः

पिछले अनुभवों के कारण नरसी महेता ने यह निश्चय किया कि वे अपना घर अलग बसायेंगे। भाई-भाभी को चिन्ता हुई कि इस व्यवहार-अनभिज्ञ युवक की गृहस्थी कैसे चलेगी ? इसलिए उन्हों ने नरसी से आग्रह किया कि वे पहले की तरह उनके साथ ही रहें। पर नरसी का निर्णय हो चुका था। उन्होंने उन्हें समझाया कि अलग रहने से ही उनमें अच्छा प्रेम-भाव रह सकेगा।

इस प्रकार वे अलग रहने लगे, वे स्वयं तो भगवद्भजन एवं साधु-संतों की सेवा में ही लगे रहते थे। गृहस्थी का बोझ माणेक बाई पर था। भगवान् की कृपा से उनका गृहस्थ-जीवन किसी प्रकार सुख-शांति से चलने लगा। शैव सम्प्रदाय के नागर ब्राह्मणों में पैसा और सत्ता ही सब कुछ समझा जाता था। उन्हें नरसी का यह ढंग बिलकुल पसंद नहीं था। वे नरसी पर ताने कसते ही रहे। अंत तक उन्हों ने नरसी महेता को सताया। पर नरसी ने उनकी कोई परवाह नहीं की। 'हाथी चलत है अपनी गत मों, कुतर भुकत वाको भुकवा रे'। वाले कबीर-वचन का पालन वे अपने जीवन में करते रहे।

थोड़े दिनों के पश्चात् माणेक बाई ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम शामलदास रखा गया।

श्राद्ध के दिन भगवान्

एक दिन की बात है। नरसी महेता के स्वर्गस्थ पिता का श्राद्ध था। उसके लिए वे घी लाने बाज़ार गये। वहां एक व्यापारी ने उनसे भजन-कीर्त्तन की बात शुरू की तो उसी में वे तल्लीन हो गये ; और घी को या श्राद्ध को भूल गये। उनकी यह स्थिति देखकर किसी व्यक्ति ने उनके घर पर सभी श्राद्ध के उपयोगी सामग्री पहुंचा दी और भोजन बनाकर निमंत्रित ब्राह्मणों को भरपेट भोजन कराया। जब नरसी महेता घर पहुँचे तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनकी अनुपस्थिति में श्राद्ध का समारोह पूर्णतया सम्पन्न हो चुका था। वे जान गये कि मानो स्वयं भगवान् ने ही उनका काम कर दिया था।

हरिजन-बस्ती में नरसी महेता

गांधी जी ने अस्पृश्यों के लिए जो 'हरिजन' शब्द चलाया, उसका प्रयोग नरसी महेता ने पाँच सौ वर्ष पहले उसी अर्थ में किया था, यह देख कर आश्चर्य होता है। संभव है, गांधी जी को यह शब्द नरसी की रचनाओं से ही सूझा हो।

महाराष्ट्रीय संत एकनाथ जी की तरह संत नरसी महेता ने भी हरिजनों की बस्ती में जाकर मानव की समता को अपने आचरण से चरितार्थ कर दिखाया था।

गिरनार पर्वत की तलहटी में एक दामोदर कुंड है। वहाँ महेता जी नहाने के लिए प्रायः जाया करते थे। उस रास्ते पर हरिजनों की बस्ती थी। वे महेता जी को भजन करते हुए दामोदर कुंड आते-जाते देखते थे। उनके मन में विचार आया कि 'क्या नरसी मेहता हमारे यहाँ भी कीर्तन करने

आयेंगे ?' एक दिन हिम्मत करके उन लोगों ने नरसी जी से प्रार्थना की—

"हे महापुरुष, आप से हमारी इतनी प्रार्थना है कि आप हमारे आंगन में आकर कीर्तन करें। हम भक्तिरस को प्राप्त करेंगे और जन्म-मरण के जंजाल से छूट जायेंगे।"

कोई भी नागर ब्राह्मण हरिजन बस्ती में चला जाय, यह उस समय में एक अकल्पनीय घटना थी। परन्तु उन लोगों की दृढ़ हरिभक्ति देख कर नरसी महेता जैसे प्रभुभक्त वहाँ जाने से कैसे इनकार कर सकते थे ? उनकी प्रार्थना सुन कर उन परम दयालु वैष्णव महेता जी के मन में करुणा की धारा फूट निकली। शुष्क ब्राह्मणत्व के झूठे आडम्बर और खोटे अहंकार से ऊपर उठ कर उनके हृदय में से यह आवाज़ निकली—

'जहाँ भेदभावना होती है वहाँ परमेश्वर नहीं होते। भगवान् तो समदृष्टि होते हैं। सब के लिए उनके मन में समान स्थान होता है। तुम लोग गोमूत्र और गोबर से भूमि को लीप-पोत कर वहाँ तुलसी का पौदा लगाओ। मैं अवश्य रात को आ जाऊँगा ?'—इस प्रकार वैष्णव संत नरसी महेता ने आश्वासन दिया।

पक्षापक्षी त्यां नहीं परमेश्वर, समदृष्टि ने सर्व समान।
गोमूत्र-तुलसी वृक्ष करी लींप जो, एवुं वैष्णव आप्युं वाग्दान ॥

अछूत लोग आनन्द के साथ अपने अपने घर चले गये। उन्होंने सारी बस्ती के बच्चों को नहलाया-धुलाया, साफ़ सुथरे कपड़े पहनाए, खुद भी नहा-धोकर पवित्र हुए और एक चबूतरे को लीप-पोत कर तैयार किया।

रात को नरसी महेता अपने साथ प्रसाद की टोकरी ले कर हरिजन बस्ती में चले गये। सारी रात भजन-कीर्तन होता रहा। वहाँ एकत्रित अछूत जनता को प्रसाद बाँटा गया और महेता जी भजन गाते हुए अपने घर लौटे।

नरसी महेता के इस कार्य से सारे शहर में, और विशेषतया नागर ब्राह्मणों में कोलाहल मच गया। आज तक कोई नागर ब्राह्मण ढेढ़ों के यहाँ नहीं गया था। किसी को कल्पना तक नहीं थी कि कोई नागर वहाँ किसी दिन जायगा। इसलिए सब क्रुद्ध हो गये।

जब महेता जी प्रातःकाल झांझ मृदंग बजाते भजन गाते घर लौटने लगे तो सारे नागर स्त्रीपुरुष उन्हें बुरा-भला कहने लगे, उन पर व्यङ्ग्य कसने लगे। कोई हँसता था, कोई थूकता था। सब क्रोध में पूछते थे—"नरसी, अरे यह तुमने क्या किया? तुमने तो ब्राह्मण-जाति को कलंक लगा दिया। भला यह भी कोई ब्राह्मण का काम है? अपनी जात-बिरादरी का भी तो तुमने कोई विचार किया है?"

महेता जी मौन रह कर चुपचाप चलते रहे। वे सोचते, 'इन कच्ची बुद्धिवालों को मैं क्या उत्तर दूं? वे लोग कह रहे थे—

तुम अपनी जात-पाँत की कोई परवाह नहीं करते, तुम में कोई विवेक भी नहीं है।

तब सब को हाथ जोड़ कर नरसैंयो कहता है, मुझे तो वैष्णवों का आधार है।

कर जोडीने कहे नरसैंयो, वैष्णव तणो मने छे आधार।

और एक स्थान पर नरसी महेता अपने आक्षेपकों को उत्तर देते हुए कहते हैं—

हम तो जो हैं सो हैं। जैसा आप मुझे बुरा मानते हैं, वैसा ही हूँ। भक्ति करने पर यदि आप मुझे भ्रष्ट कहेंगे तो मैं दामोदर की सेवा ही करता रहूँगा—

एवा रे अमो एवा रे एवा, तमे कहो छो वळी तेवा रे।
भक्ति कर तां जो भ्रष्ट कहेशे तो, करशुं दामोदर नी सेवा रे॥

इसी भजन में वे आगे कहते हैं—

कर्म-धर्मनी बात छे जेटली, ते मुज ने नव भावे रे।
सघळा पदारथ जे थकी पामे, मारा प्रभु नी तोले ना' वे रे॥

कर्मकांड की कोई बात मुझे बिलकुल पसंद नहीं आती। सारी बातें जिससे प्राप्त होती हैं उस मेरे प्रभु की बराबरी कोई नहीं कर सकता, और अन्त में वे कहते हैं :—

हळवां कर्म नां हुँ नरसैंयो, मुजने तो वैष्णव वहाला रे।
हरिजन थी जे अन्तर गण शे, तेना फोगट फेरा ठाला रे।

मैं तो मन्दभागी नरसी हूँ। मुझे तो वैष्णव जन प्रिय हैं। जो लोग हरिजनों से दूरी भाव रखेंगे वे नाहक आवागमन के चक्कर में फंसे रहेंगे।

शामलदास का विवाह

नरसी महेता का भक्ति जीवन इस प्रकार मार्ग के संकटों को पार करता हुआ बहा जा रहा था। परन्तु सांसारिक जीवन कभी-कभी अटक जाता था। तब भगवान् उनकी सहायता के लिए दौड़े आते। उनका बेटा शामलदास बारह वर्ष का हो गया था। अब उसके विवाह की चिन्ता सवार

हुई। वैसे उनका घराना तो बड़ा ऊँचा था ; पर अन्य नागरों की तुलना में बिलकुल ही निर्धन था। इसलिए कोई नागर अपनी लड़की नरसी महेता के यहाँ देने को तैयार नहीं होता था। माणेक बाई इस विषय में जब चिन्ता प्रकट करतीं तो नरसी भगत निश्चिन्त होकर उत्तर देते :—

तू भगवान् का ध्यान कर। प्रसन्न होकर भगवान् सहायता करेंगे।

संयोग की बात ! वडनगर राज्य के दीवान मदन महेता ने अपनी बेटी के लिए सुयोग्य वर खोजने के लिए अपने पारिवारिक ब्राह्मण दीक्षित को भेजा। उन्होंने जूनागढ़ में आकर वहां के नागर ब्राह्मणों के लड़कों को देखा, पर उन्हें एक भी लड़का पसन्द नहीं आया। तब नागर भाई रुष्ट हो कर विनोद के भाव से दीक्षित जो के सामने नरसी महेता की व्याजस्तुति करके उन के बेटे शामलदास का समर्थन करने लगे।

बेचारे दीक्षित ज़ी भोले-भाले भक्त-हृदय थे। नागरों के व्यंग्य को उन्होंने ठीक समझा और वे नरसी जी के घर चले गये। नरसी महेता के विनम्र व्यवहार से ये बड़े बड़े प्रभावित हुए और शामलदास को देखते ही वह उन के मन भा गया। उन्होंने नरसी महेता के सामने मदन महेता की पुत्री के विवाह का प्रस्ताव रखा। नरसी महेता मन ही मन जान गये कि यह सब भगवान् की ही लीला हैं। उन्होंने नम्रता से कहा, "दीक्षित जी, यह कैसा प्रस्ताव आप करते हैं ? हम तो ठहरे रंक ! दीवान साहब की बराबरी हम कैसे कर सकेंगे ?" पर दीक्षित जी नहीं माने। सगाई पक्की करके ही वे वहाँ से निकले।

जब दीक्षित जी ने वडनगर जाकर सगाई की बात बड़े उत्साह से कही तो मदन महेता की स्त्री सिर कूटने लगी। नरसी महेता की बदनामी वडनगर तक पहुँच चुकी थी। दिन-रात भजन-कीर्तन में मग्न होकर, ढेढ चमारों के मुहल्ले में जाकर, नागर जाति पर बट्टा लगाने वाले नरसी महेता के पुत्र को अपनी पुत्री ब्याहने के लिए वह किसी तरह तैयार नहीं हुई। वह बार-बार कहने लगी कि—"यह विवाह नहीं हो सकता। मँगनी तोड़ दो!"

तब कुलोपाध्याय दीक्षित जी भी क्रुद्ध हो गये। उन्होंने दृढ़ता के साथ कहा, "यदि यह सगाई तोड़ दी जाय तो मैं अपने गले में फाँसी लगा लूँगा!" उनकी दृढ़ता देखकर मदन महेता ने किसी तरह अपनी पत्नी को समझा-बुझा कर विवाह के लिए राज़ी किया; और अपनी स्वीकृति का पत्र नरसी महेता को भेजा!

यहां तक तो ठीक हो गया। पर विवाह के लिए पैसा भी तो चाहिए। वह कहां से आये? फिर मदन महेता जैसे धनी व्यक्ति के साथ सम्बन्ध आ रहा था। उसकी तुलना में अगर पैसा ख़र्च न किया जाय तो जगहँसाई ही होगी। माणेक महेती को बड़ी चिन्ता होने लगी। मगर नरसी महेता को अपने इष्ट देवता का भरोसा था।

प्रभु की कृपा से बड़े ठाठ-बाट से शामलदास का विवाह सम्पन्न हुआ। इस प्रसंग को लेकर नरसी महेता ने 'शामलदास ने विवाह' नाम का बड़ा रस-भीना काव्य लिखा, जो आज भी बड़े प्रेम से गुजरात में पढ़ा और गाया जाता है।

मीराबाई को पत्र

कुछ लोगों की धारणा है कि नरसी महेता, मीराबाई और

तुलसीदास एक ही समय में हुए। कहते हैं कि जब मीराबाई उदयपुर में अपने घर वालों के सताने से तंग आ गई और घर छोड़कर वृन्दावन में जाकर भजन-पूजन करने का विचार सोचने लगीं तो उन्होंने दो पत्र लिखे। एक सन्त तुलसीदास को और दूसरा नरसी भगत को। मीरा ने पूछा था कि वे क्या करे। तुलसीदास जी ने उन्हें जैसा उत्तर दिया था, वैसा ही उत्तर नरसी ने भी लिखकर भेजा। उन्होंने लिखा था—

"नारायण का नाम लेने से जो रोकता है, उसका त्याग करना चाहिए; और मन, वचन तथा कर्म से भगवान् का भजन करना चाहिए। कुल, परिवार माता-पिता, बहन, बेटा, पत्नी आदि नारायण का नाम लेने में बाधक हों तो उनका त्याग उसी तरह कर देना चाहिए जैसे साँप केंचुली उतार कर रख देता है। पूर्वकाल में भक्त प्रह्लाद ने अपने पिता को छोड़ दिया, पर हरि का नाम लेना नहीं छोड़ा। भरत ने अपनी माता का परित्याग किया, पर श्रीराम को नहीं छोड़ा। ऋषि-पत्नियों ने भगवान् के कारण अपने पतियों को छोड़ दिया, इससे उनका कुछ न बिगड़ा, क्योंकि उससे उन्हें चारों पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) प्राप्त हो गये। व्रज वनिताएँ (गोपियाँ) श्री विट्ठल के कारण सब कुछ छोड़कर वन में चली गयीं!"

नरसी कहते हैं कि इस प्रकार वे मोहन के साथ जीवन-रस का आनन्द उठा सकीं।

> नारायण नुं नाम ज लेतां, वारे तेने तजिये रे।
> मनसा वाचा कर्मणा करीने, लक्ष्मीवर ने भजिये रे ॥१॥
> कुल ने तजिये कुटुम्ब ने तजिये, तजिये माने बाप रे।
> भगिनी सुत दारा ने तजिये, जेम तजे कंचुकी सांप रे ॥२॥

प्रथम पिता प्रह्लादे तजियो, न व तजियुं हरि नुं नाम रे।
भरत शत्रुघ्ने तजी जनेता, न व तजिया श्रीराम रे ॥३॥
ऋषि पत्नी श्री हरि ने काजे, तजिया निज भरथार रे।
ते मां तेनुं कांई ए न गयुं, पामी पदारथ चार रे ॥४॥
व्रजवनिता विट्ठल ने काजे, सर्व तजी वन चाली रे।
भणे नरसैंयो वृन्दावन मां, मोहन वर शुं महाली रे ॥५॥

भक्तों का मानना है कि तुलसीदास एवं नरसी महेता के इन विचारों से प्रभावित हो के मीराबाई घर छोड़कर वृन्दावन चली गयीं।

मारी हूंडी स्वीकारो महाराज

नरसी महेता दिन-रात ईश्वरचिन्तन एवं भजन में लगे रहते थे। दुनिया वालों से उन्हें कोई प्रलोभन ही नहीं था। उनके मन में किसी के भी विषय में तनिक भी बुरी भावना न थी। परन्तु संसार में ऐसे दुष्ट लोगों की कमी कभी नहीं रही जो सज्जनों को सताने में ही आनन्द लेते हैं। नरसी महेता के काल में भी ऐसे लोग बहुत थे, विशेष करके उनकी अपनी जाति के नागर भाइयों में, जो उनकी लोकप्रियता के कारण उनसे जलते रहते थे और उन्हें फँसाने का जब अवसर हाथ लगता तो उसे जाने नहीं देते। शामलदास के विवाह में उनके इस स्वभाव को मुँह की खानी पड़ी थी। फिर भी वे बार-बार नरसी जी को सताते रहते थे।

एक बार की बात है। कुछ यात्री जूनागढ़ आये थे। वे द्वारिका जाना चाहते थे। उन दिनों जूनागढ़ से द्वारिका का मार्ग बड़ा बीहड़ था। और उसमें चोर-डाकुओं का डर रहता था। इसलिए लोग नकद पैसा अपने पास न रख कर जूनागढ़

में किसी सेठ या महाजन को अपने पास का पैसा देकर उससे द्वारिका के किसी सेठ या महाजन के नाम हुँडी (चेक) प्राप्त करते थे। इससे रास्ते में चोरी का डर नहीं रहता था। इसी तरह जूनागढ़ आये हुए ये यात्री किसी सेठ के यहाँ अपनी रकम रख कर द्वारिका के लिए उसकी चिट्ठी (हुँडी या चेक) ले जाना चाहते थे। उन्होंने किसी नागर ब्राह्मण से ऐसे किसी सेठ का नाम पूछा। उस नागर को विनोद सूझा। उसने उन्हें नरसी महेता का नाम धाम बता दिया। वे अनजान यात्री नरसी महेता के पास पहुँचे और उनसे हुँडी के लिए प्रार्थना करने लगे। नरसी महेता ने उन्हें बहुतेरा समझाया कि उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे वे हुँडी दे सकें। किन्तु वे यात्री नहीं माने। उन्होंने समझा कि महेता जी नम्रता के कारण टालना चाहते हैं। वे अपनी बात पर अड़े रहे। अन्त में नरसी को विवश होकर उनकी बात माननी पड़ी। मगर वे हुँडी लिखते तो किसके नाम लिखते ? द्वारिका में भगवान् श्रीकृष्ण को छोड़ उन्हें जानने वाला और था ही कौन ? सो उन्होंने शामला गिरधारी के नाम चिट्ठी लिख दी। यात्री बड़े श्रद्धाभाव से हुँडी लेकर चले गये। नागर भाई मन ही मन हँसने लगे कि कैसे नरसी को बुद्धू बनाया है।

नरसी महेता परिस्थिति की गम्भीरता को अच्छी तरह समझ गए थे। उनकी अपनी साख का ही नहीं किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा का भी सवाल था। ऐसी स्थिति में भगवान् के भजन को छोड़ और क्या कर सकते थे ? वे गद्गद् कंठ से गाने लगे—

मारी हुँडी स्वीकारो महाराज रे, शामळा गिरधारी।
मारी हुँडी शामलिया ने हाथ रे, शामळा गिरधारी॥

हे साँवले गिरधारी, महाराज, मेरी हुँडी सकोरो। मेरी हुँडी सावलिया के हाथ में है।

उधर यात्रीगण द्वारिका पहुँच कर सेठ शामळा गिरधारी की दूकान खोजते खोजते थक गये। उस नाम की कोई कोठी वहाँ थी ही नहीं तो वह कहाँ से मिलती? बेचारे निराश होकर नरसी महेता को बुरा-भला कहने ही वाले थे कि इतने में कोई सेठ उनकी पूछताछ करते हुए वहाँ पहुँच गये। उन्होंने उन यात्रियों से कहा—

हुंडी लावो हाथ मां, वळी आपुं पूरां दाम,
रुपिया आपुं रोकडा रे, मारुं शामळशा सेठ-एवुं नाम रे।

मेरा नाम शामळा सेठ है। आप अपनी हुंडी मुझे दे दीजिए तो मैं उसका पूरा दाम नकद रुपयों में दे दूंगा।

इस प्रसंग का वर्णन करने वाले भजन के अन्त में नरसी कहते हैं—

हुंडी स्वीकारी वहाले शामळे, वळी अरजे कीधां काम।
महेता जी पूरी लख जोरे, मुज वाणोत्तर सरखां काम रे॥

प्यारे साँवलिया ने मेरी हुँडी स्वीकार कर ली, मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके मेरा काम कर दिया। उसने यह भी कहा कि, महेता जी, मुझ मुनीम के योग्य कोई और काम हो तो अवश्य लिखिए।

जब इस घटना की सूचना जूनागढ़ पहुँचो तो नरसी महेता के विरोधी पानी-पानी हो गये और महेता जी की कीर्ति में चार चाँद लग गये।

सम्भव है नरसी महेता के किसी भक्त महाजन को हुंडी को खबर मिलने पर उसने उसका पैसा यात्रियों को दे दिया हो!

'हार माळा नां पदो'

नरसी महेता द्वारा किया जाने वाला कृष्णभक्ति का प्रचार शैव नागर ब्राह्मणों को अच्छा नहीं लगता था। वे नरसी को अपमानित करने का अवसर खोजते रहते थे। नरसी जी के भजन-कीर्तनों में पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी बड़ी मात्रा में उपस्थित रहती थीं। कीर्तन करते-करते भक्त नरसी थक जाते थे और कभी कभी भावावेश में आकर बेहोश भी हो जाते थे। तब वहाँ उपस्थित बहनें उन्हें पानी पिलातीं या पंखा झलती थीं। अपनी स्त्रियों द्वारा नरसी की इस प्रकार की सेवा करना उनके पतियों और सगे-सम्बन्धियों को बुरा लगता था। अतः जूनागढ़ के राजा 'रा' मांडलिक के पास नरसी के विरुद्ध शिकायतें पहुँचने लगीं। सब शिकायतों का तात्पर्य यही होता था कि नरसी महेता रासलीला के बहाने स्त्रियों के साथ नाचता है और अनाचार फैलाता है। 'रा' मांडलिक जानते थे कि नरसी महेता सच्चे भगवद्भक्त हैं और भगवान् सदैव उनकी सहायता के लिए तैयार रहते हैं। इसलिए कुछ दिन तक उन्होंनें इन शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया। पर जब शिकायतों की संख्या बढ़ने लगी तो उन्हें ऐसा लगा कि इस सम्बन्ध में नरसी की कोई परीक्षा ली जानी चाहिए जिससे उनकी पवित्रता प्रमाणित हो और लोगों को उनके निष्पाप होने का विश्वास हो जाय।

उन्होंने नरसी महेता को बुलवा लिया और उनसे कहा कि, "आपके विषय में लोगों के मनों में सन्देह का निर्माण हुआ है। यह सन्देह तभी दूर होगा जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने गले की फूल-माला भरे दरबार में आपके गले में डाल देंगे।"

नरसी महेता ने यह शर्त्त स्वीकार कर ली और वे दरबार में ही कीर्तन करने लगे। सामने विष्णु का मन्दिर था। मूर्ति की पूजा हो चुकी थी और बड़ी-बड़ी फूल-मालाएँ उन्हें चढ़ाई गयी थीं।

कीर्तन शुरू तो हो गया, पर शीघ्र ही एक बहुत बड़ी कठिनाई नरसी महेता के ध्यान में आ गयी। जिस 'केदारा' राग को सुनकर भगवान् प्रसन्न होते थे और उनके गाने में अपनी बंसी के सुर मिलाते थे वह एक सेठ के यहाँ गिरवी रक्खा हुआ था।

इसकी भी एक कहानी थी। एक दिन उनके यहाँ कुछ साधु लोग आ पहुँचे। उन्हें भोजन कराना आवश्यक था, पर घर में कुछ भी नहीं था। पैसा भी पास नहीं था। इसलिए नरसी भगत अपने पूर्वपरिचित महाजन के यहाँ पहुँचे; पर उसने बिना कुछ गिरवी रखे पैसा देने से इन्कार कर दिया। अब बेचारे नरसी महेता के पास क्या था जिसे वे गिरवी रखते? कुछ होता तो यह नौबत काहे को आती? अन्त में उन्हें अपने 'केदारा' राग का स्मरण हुआ। सेठ जी भी जानते थे कि 'केदारा' के बिना नरसी महेता का काम नहीं चल सकता था। अतः उसने उनसे लिखा लिया कि जब तक वे उसका कर्ज़ा न चुका देंगे तब तक 'केदारा' राग नहीं गायेंगे, और उन्हें आवश्यक रकम दे दी। इस प्रकार नरसी महेता का 'केदारा' राग आज उनके पास नहीं था।

भगवान् अपने भक्त की अड़चन को समझ गये। कोई व्यक्ति उस महाजन के पास गया, और उसका ऋण चुका कर 'केदारा' छुड़ा लाया। 'केदारा' मिलते ही नरसी की समस्या

सुलझ गयी। उन्होंने 'केदारा' गाना शुरू किया। सुरीले गान से सभी मस्त हो गये। उन्हें सुध-बुध भूल गई। गान समाप्त होने पर लोगों ने देखा कि फूल-माला महेता के गले में पड़ी है। सारे दरबारी यह दृश्य देखकर अवाक् रह गये। 'रा' मांडलिक के लिए अब कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं रही थी। सब लोग मान गये कि नरसी का चरित्र निर्मल जल के समान शुद्ध है। इस प्रसंग के उपलक्ष्य में नरसिंह महेता ने जो पद बनाये वे 'हार माळानां पदो' (हारमाला के पद) के नाम से विख्यात हैं।*

दुःखपूर्ण गृहस्थ-जीवन

एक सन्त के रूप में नरसी महेता का जीवन भले ही पूर्णरूपेण सफल हो गया हो, लेकिन एक गृहस्थ के रूप में उनका जीवन बड़ा ही दुःख-पूर्ण एवं असफल रहा। बचपन में माता-पिता की छत्रछाया से वंचित होकर उन्हें भाभी के अत्याचारों को सहन करना पड़ा था। विवाह के पश्चात् भी भाभी का सताना कम नहीं हुआ। अलग घर बनाने से घर में शान्ति तो रही, पर आर्थिक कष्ट सदैव बना रहा। गृहस्थ में एक के बाद दूसरी विपत्तियाँ आती रहीं। पुत्र शामलदास का विवाह उन्होंने बड़े ठाठ से कर तो लिया, पर वह अधिक दिन तक विवाह का सुख नहीं ले सका। विवाह के थोड़े ही दिन बाद शामल का देहान्त हुआ। विवाह कर लाई हुई बड़े घर की बेटी विधवा हो गयी। उसके थोड़े ही दिन बाद बेटी कुँवरबाई

*इन पदों के कर्त्ता के विषय में कुछ अनुसंधानकर्ता शंका उठाते हैं। उनका कहना है कि ये पद नरसी के नहीं, बल्कि बाद के किसी कवि के बनाए हुए हैं।

भी विधवा होकर घर आ गयी। सम्भवतः, इन अघातों को सहन न कर सकने के कारण धर्मपत्नी माणेक महेती भी एक दिन इस दुःखपूर्ण संसार को छोड़ कर चल बसीं। नरसी अब बिलकुल मुक्त हो गये। उनके मुँह से यह उद्गार निकला— "भलुं थयुं भांमी जंजाल। सुखे भजीशुं श्री गोपाल ॥" अच्छा हुआ, यह झंझट भी मिट गया, अब सुख से भगवान् का भजन करेंगे।

महेता के दो सौ वर्ष पश्चात् आये हुए महाराष्ट्र-सन्त श्री तुकाराम ने भी ऐसा ही कहा था—

बरें जालें देवा निघालें दिवालें। बरी या दुष्कालें पीड़ा केली ॥ ॥
अनुतापें तुझें राहिलें चिन्तन। जाला हा वमन संवसार ॥२॥
बरें जालें देवा बाईल कर्कशा। बरी हे दुर्दशा जना मध्ये ॥३॥
बरें जालें जगीं पावलों अपमान। बरें गेलें धन ढोरें गुरें ॥४॥

भगवान् यह अच्छा ही हुआ कि मेरा दीवाला निकल गया और अकाल ने मुझे कष्ट पहुँचाये। अनुताप के कारण तुम्हारा चिन्तन हो सका और यह गृहस्थी वमन (क़ै) बन गयी। अच्छा हुआ कि मुझे कर्कशा (झगड़ालू) पत्नी मिल गयी, उससे लोगों में पर्याप्त दुर्गति हुई। अच्छा ही हुआ कि संसार में मेरा अपमान हो गया और मेरी सारी सम्पत्ति चली गयी।

सम्भव है, संसार के अधिकांश सन्त-महात्माओं का यही अनुभव है!

इस प्रकार संसार के अच्छे-बुरे अनुभवों को पार करते हुए नरसी महेता ने इस संसार में छियासठ वर्ष बिताए और लोगों को भक्तिरस का पान कराते हुए इस लोक से विदा

ली। वे बड़े ही सरल स्वभाव के एवं विनम्र थे। उनके मन में कभी किसी के प्रति द्वेष-भावना नहीं आई। इसीलिए पाँच सौ वर्ष के पश्चात् भी वे जन-मानस पर अधिकार जमाये हुए हैं। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि नरसी आज भी जीवित हैं। नरसी महेता अमर हैं।

रचनाएँ

नरसी महेता परम वैष्णव थे। उनके समय तक वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का प्रवेश गुजरात में नहीं हुआ था। नरसी की वैष्णव भक्ति में 'श्रीमद्भागवत' और जयदेव के 'गीतगोविन्द' का प्रभाव स्पष्टरूपेण दिखाई देता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के समय से ही गुजरात का धार्मिक जीवन भक्ति-प्रधान रहा है और उसे बनाये रखने में नरसी महेता की भक्तिरस पूर्ण कविता का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ यह स्मरण रहे कि नरसी के काव्य में केवल भक्तिरस नहीं है जैसा कि मीराबाई के पद्यों में पाया जाता है। नरसी के काव्य में भक्ति के साथ-साथ दर्शन की मात्रा भी पर्याप्त रूप में पायी जाती है; या यह कह सकते हैं कि भक्ति एवं तत्त्वज्ञान का सुचारु समन्वय नरसी महेता में पाया जाता है। इसलिए उनका काव्य हृदय एवं बुद्धि दोनों को स्पर्श करता है। यही कारण है कि आज बीसवीं शताब्दि में भी उसका आकर्षण बना हुआ है। यद्यपि नरसी महेता गुजराती के प्रथम कवि नहीं थे, फिर भी उनके प्रभाव को देखते हुए उन्हें गुजराती का आदि कवि माना गया है।

नरसी महेता की रचनाएँ विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं। यह कहना कठिन है कि उनके नाम पर चली आई रचनाओं

में दूसरों की रचनाएँ कितनी सम्मिलित हैं। फिर भी इतना आवश्यक कहा जा सकता है कि उनमें से अधिकाँश उन्हीं की होंगी।

उनकी रचनाओं को तीन प्रधान विभागों में बाँटा जा सकता है। वे विभाग इस प्रकार हैं—

१. भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद—

(अ) कृष्ण जन्म
(आ) बाल-लीला
(इ) नागदमन
(ई) दान-लीला
(उ) मान-लीला
(ऊ) रास-लीला
(ए) सुदामा-चरित्र
(ऐ) रुक्मिणी विवाह
(ओ) गोविन्द गमन।

२. गीत गोविन्द का अनुवाद या उससे प्रेरणा प्राप्त करके लिखे हुए काव्य—

(अ) चातुरी छत्रीसी
(आ) चातुरी षोडशी
(इ) सुरत संग्राम।

३. आत्मनिष्ठ या स्वानुभूति के पद—

(अ) गोपी भाव प्रकट करने वाले पद।
(आ) मामेरुं (ननिहाल)।
(इ) शामलदास नो विवाह।
(ई) वैष्णवजन की महत्ता बनाने वाले पद।
(उ) लोगों के आक्षेपों का उत्तर।
(ऊ) हरिजन बस्ती वाले प्रसंग से सम्बन्धित पद।
(ए) वैराग्य एवं ज्ञान के पद।

नरसी महेता के काव्यों में मुख्य प्रकार पदों का है। उनकी प्रभातियां और भजन आज भी अत्यन्त लोकप्रिय हैं। रास-

नृत्य के समय गाये जा सकनेवाले पद भी उन्होंने लिखे हैं। वे 'रास सहस्त्रपदी' नाम से प्रख्यात हैं। परन्तु इस संग्रह के सभी पद उनके बनाए हुए नहीं हैं। उसमें सहस्त्र पद भी नहीं हैं। इससे ऐसा लगता है कि इस संग्रह को 'रास सहस्त्रपदी' का नाम बाद में किसी ने दिया होगा और उसमें दूसरे लोगों के बनाये हुए क्षेपक पद भी सम्मिलित किये गये होंगे।

आत्म-चरित्रात्मक पदों में अपनी महत्ता नहीं बल्कि भगवान् की भक्त-वत्सलता का ही दर्शन उन्होंने कराया है। ऐसे पदों में प्रसंगों का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। प्रसंगों का संकलन भी अच्छा हुआ है।

आख्यान-काव्य का बीजारोपण नरसी महेता ने ही गुजराती में किया, ऐसा माना जाता है। उनके आख्यान काव्य का उत्कृष्ट नमूना उनके 'सुदामा-चरित्र' में देखने को मिलता है। परन्तु उनकी कल्पना का पूरा विलास तो उनकी कृष्ण-लीलात्मक रचनाओं में ही देखने को मिलता है। उन्होंने रासलीला का वर्णन इतना सजीव किया है कि उसे पढ़ते समय ऐसा लगता है, मानो अपनी आँखों के सामने रासक्रीडा को देखते हुए उन्होंने उसे शब्दबद्ध किया था। सखी-भक्ति नरसी महेता की एक खास विशेषता है। वे स्वयं गोपी बनकर श्रीकृष्ण के साथ मानसक्रीड़ा करते थे। इसीलिए वे लिख गये कि—

पुरुष पुरातन लीन थयुं माहरुं,
सखीरूपे थयो गीत गावा।

अर्थात् सखीरूप में गीत गाने के लिए मैं पुरातन पुरुष में लीन हो गया। ऐसा लगता है, मानो नरसी महेता में स्त्रीत्व का अंश बचपन से ही था। शंकर जी के सम्बन्ध में पद

बनाते समय भी उन्होंने पार्वती जी की मनोदशा का ही अच्छा चित्रण किया था। पर जब उन्होंने रासक्रीडा देखी तब तो उन्हें ऐसा लगा, मानो वे स्वयं गोपी हैं। और वे आनन्द से गा उठे—

ए रस नो स्वाद शंकर जाणे, के जाणे शुक जोगी रे।
कांइ एक जाणे व्रजनी रे गोपी, भणे नरसैंयो भोगी रे॥

अर्थात् इस रस का आस्वाद या तो शिवजी जानते हैं या योगीराज शुक। भोगी नरसी कहता है कि इस रस का आस्वाद व्रज की कोई गोपी ही बता सकती है।

उनकी रचनाओं में अनेक स्थानों पर ऐसा उल्लेख आता है कि—

गोपी मां हुं तो नरसैंयो, प्रेम सुधारस पीधो रे।

या फिर,

नरसैंयां नु पुरुषपणुं रे, जाणुं गयुं तेणी वेळा रे।

अर्थात् मैंने गोपियों में मिल कर प्रेम सुधारस का पान किया। और, नरसी का पुरुषपन मानो कब का चला गया है।

उनके सखी भावात्मक पदों में स्त्रीहृदय की व्यथा, व्याकुलता, विरह-मिलन के भाव आदि के साथ ही शृंगार-लीला के विविध रूप भी सजीव बन गये हैं। हाँ, कहीं शृंगारलीला का स्थूल रूप भी प्रकट हुआ है, जिसे अमर्यादा शृंगार भी कहा जा सकता है। पर ऐसे स्थान बहुत कम हैं।

ज्ञान वैराग्य के पद

परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, नरसी महेता की सखी भावात्मक या शृंगारलीला का वर्णन करने वाली कविताएँ लुप्त होती जा रही हैं और उनके ज्ञान वैराग्य के

पद नये आवेश के साथ आगे आ रहे हैं। संख्या की दृष्टि से वे अधिक नहीं हैं, फिर भी गुजरात में ही नहीं बल्कि गुजरात से बाहिर भी वे अधिकाधिक लोकप्रिय बनते जा रहे हैं। उनकी सखी-भक्ति की रचनाएँ जीवन के पूर्वार्ध में लिखी गयी थीं, जबकि ज्ञान वैराग्य के पद जीवन के उत्तरार्ध में लिखे गये थे। उन पर वेदान्त एवं उपनिषद् के विचारों का गहरा प्रभाव पाया जाता है। ब्रह्म और माया की 'अखण्ड रासलीला' का वर्णन अपनी मधुर वाणी से करते हुए उन्होंने प्रारम्भिक दिनों में कृष्णभक्ति का प्रचार किया था। उन्होंने ब्रह्म एवं माया में भेद नहीं किया। वे कहते थे, 'ब्रह्म लटकां करे ब्रह्म पासे' (अर्थात् ब्रह्म ब्रह्म के साथ प्रणयक्रीडा करता है) यानी माया भी ब्रह्म का ही रूप है सच तो यह है कि राधाकृष्ण एकरूप हैं। उनमें भेद नहीं है। ब्रह्मलीला अथवा राधाकृष्ण का जो अखण्ड रास चल रहा है, उसी से सारी दुनिया का खेल चलता है। इस प्रकार के विचार उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रकट किये हैं।

जैसे जैसे जीवन का सूर्य ढलता गया, नरसी महेता के पदों में वैराग्य भाव बढ़ता गया। संसार की असारता, शरीर की नश्वरता, मृत्यु की भयंकरता आदि का दर्शन उनके इन पदों में होता है। अपने को राधा या राधा की दूती मान कर श्रीकृष्ण के साथ मानस-क्रीड़ा करने वाले नरसिंह महेता उत्तरकाल में चिन्तनशील बन कर निरञ्जन निराकार परमात्मा की सर्वव्यापकता का अनुभव करने लगे। वे कहने लगे—

गुरु नानकदेव

[१४६९–१५३९]

●

संतोष कुमार

प्रस्तावना

भारत-भूमि को महिमान्वित करने के लिए महापुरुषों, शूरवीरों, ऋषि-मुनियों और अमर बलिदानियों की एक दीर्घ परम्परा ने जो कार्य किया वह हमारे इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अंकित है। उन नर-पुगवों के स्मरण-मात्र से ही मस्तक गौरव से ऊँचा उठ जाता है। उनकी यशो-गाथायें नव-जीवन का संचार करती हैं। उनकी अटूट निष्ठा, अविरल श्रम और निरन्तर साधना से भारत को विश्व गुरु का पद प्राप्त हुआ था। अनेक देशों के राजमुकुट भारत के चरणों में झुके और इसके गौरव के गीत आज तक विश्व-भर में गूंजते हैं। इसके यश की धवल विजय-वैजयन्तियां विश्व के उन्मुक्त गगन में गौरव से लहराती हैं और इसकी कीर्ति और ज्ञान के केतु विश्व को आज भी चुनौती देते है। यह हमारे गौरवपूर्ण अतीत का इतिहास है।

मानवता को सर्वप्रथम ज्ञानालोक प्रदान करने वाले ऋषियों की पावन चरण-धूलि जिस धरती को पवित्र बनाती रही है। वह पंचनद की भूमि है। उसी पंचनद प्रदेश में मध्यकाल में एक अभिनव ऋषितुल्य महामानव का आविर्भाव हुआ था। तब मुगलशाही के काले बादल भारत के आकाश को आवृत कर चुके थे और चतुर्दिक् दुःख, दास्य, दैन्य और दौर्बल्य का साम्राज्य था। हिन्दू-समाज अनेक कुरीतियों और रूढ़ियों के पंक में फंस गया था। ऐसे विकट काल में आशा

के क्षितिज में आस्तिकता एवं आकांक्षा की सुनहली रश्मियों को बिखेरते हुए बाल-अरुण के समान एक महापुरुष का उदय हुआ।

यह महापुरुष गुरु नानकदेव थे। उन्होंने जाति-पाँति और बाह्य आडम्बरों से समाज को शुद्ध करने का प्रयास किया और समता का संदेश दिया। उनके उद्देश्यों में शान्ति, समता और ज्ञान की जो शीतल पयस्विनी प्रवाहित हुई। उससे निराश, निरुत्साहित व दलित जाति में नव-जीवन उत्पन्न हुआ। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध जाति ने मरना सीखा और बलिदानों की एक परम्परा बन गई। उसकी स्मृति-मात्र से आज भी हृदय पुलकित हो जाता है और मस्तिष्क गौरव से ऊँचा उठ जाता है।

नानक से पूर्व का भारत

जिन स्थितियों, वातावरण और समय में गुरु नानक का जन्म हुआ था, पहिले उन पर विचार कर लेना आवश्यक है। उस काल के, जो अत्यन्त अन्धकार का युग था, सम्बन्ध में समुचित ज्ञान होने पर ही गुरु नानक देव ने जो कार्य किये, उनके महत्त्व का सही मूल्यांकन हो सकता है।

छठी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक लगभग एक हज़ार वर्ष का दीर्घ काल भारत का अत्यन्त अन्धकारमय या पराभव का युग था। भारतमाता के महामहिमाशाली पुत्रों ने जो ज्ञान-सम्पदा हज़ारों वर्षों के तप-त्याग से अर्जित की थी वह इन एक हज़ार वर्षों में लुट गई। मारकाट, लूट-अपहरण, परस्पर फूट का जो विनाशकारी नृत्य इस काल में हुआ उसका उदाहरण अन्यत्र सम्भव नहीं है।

महाराज हर्षवर्धन के पश्चात् देश खण्ड-खण्ड हो गया। एक राष्ट्र की भावना लुप्त हो गई। मिथ्या कुलाभिमान के कारण देश पराभव की ओर उन्मुख था; द्वेष की अग्नि अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी। आठवीं शताब्दी में भारत के पश्चिमी प्रांत सिंध पर मुट्ठी-भर विदेशी लुटेरों ने अधिकार जमाया। सिंध के राजा दाहिर की पराजय की पृष्ठभूमि में भी परस्पर फूट ही थी जिसने विदेशियों के लिए भारत के कपाट सदा के लिये खोल दिये। गुरु नानक के जन्म तक अर्थात् एक हजार वर्ष तक भारतवर्ष की भूमि भारतवासियों के खून से लाल होती रही। इस समय धार्मिक रूप से भारत अनेक सम्प्रदायों में बंटा था। चारों ओर निराशा का साम्राज्य था। साधु-सन्त या धर्मोपदेशक भी निराशा का प्रसार करते रहे। वीरता और शौर्य का सूर्य अस्त हो गया। बौद्ध और जैन धर्म तथा सिद्धों व हठ-योगियों ने समाज में अकर्मण्यता और अनेक अन्धविश्वास भर दिये। इस पौरुषहीनता से १२वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते भारत अधोगति को प्राप्त हो चुका था। धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के अनाचार और कुप्रथाएँ हिन्दू समाज में व्याप्त हो गईं जिनका परिणाम एक हज़ार वर्ष की यातनापूर्ण दासता के रूप में भारतवासियों को भुगतना पड़ा। जातिवाद की संकीर्णता इतनी बढ़ चुकी थी कि अपने कुल से दूसरे में विवाह सम्बन्ध तक बन्द कर दिये गये थे। विदेशों में आना-जाना धर्मविरुद्ध था। देश के एक बड़े वर्ग को अन्त्यज अथवा अछूत घोषित कर दीन-हीन बना दिया गया था। यह सभी कारण थे जिनसे देश पराभव के अन्धकारमय गर्त में जा गिरा। इस समय देश का

संचालन-सूत्र अधिकांश अज्ञ और मूढ़ धर्मोपदेशकों व गुरुओं के हाथ में था।

मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिंध के राजा दाहिर को पराजित किया उसके साथ केवल ६ हज़ार सिपाही थे। उसकी आयु भी केवल बीस वर्ष थी। उसने सिंध के राजकोष से १७२०० मन सोने की मूर्तियां लूटीं इसमें एक मूर्ति ३० मन सोने की थी। कितने ही ऊँटों में हीरे और रत्न लाद कर वह अपने देश लौटा। यह सारी सम्पदा मुहम्मद-बिन-कासिम ने राजा दाहिर की राजकुमारियों के साथ अरब के खलीफा को भेंट कर दीं। हज़ारों हिन्दुओं को वह मुसलमान बना गया और हजारों को मृत्यु के घाट उतार दिया। इस भयंकर रक्तपात से भी भारतवासी कुछ न सीख पाये और प्रमाद की घोर निद्रा में मग्न रहे।

११वीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया। यह आक्रमण २० वर्ष तक चलता रहा। "आइने तबारीखनुमा" के लेखक का कथन है कि महमूद ने भारत में १० हज़ार मन्दिर भ्रष्ट किये। लाहौर के राजा आनन्दपाल और जयपाल भी उसे न रोक सके। भारत की लूट में महमूद ने जो सम्पदा प्राप्त की थी इतिहासकारों ने उसके आंकड़े इस प्रकार दिये हैं—

नगरकोट (कांगड़ा) के मन्दिर से ७४० मन सोना, ७०० मन सोने-चाँदी के बर्तन, २००० मन चान्दी और २० मन जवाहर। मथुरा की लूट में १ सौ ऊँट चान्दी की मूर्तियों के, २० मन सोने की मूर्तियां। ५३०० आदमियों जिनमें युवा लड़कियां, बालक तथा पुरुष थे पशुओं के समान हाँक कर

अपने देश ले गया। फरिश्ता का कथन है कि महमूद द्वारा लाये गये हिन्दू नर-नारियों से सारा ग़ज़नी अट गया। अढ़ाई-अढ़ाई रुपये में प्रत्येक व्यक्ति बेचा गया। सबसे बड़ी लूट सोमनाथ के मन्दिर में हुई—५३ रत्न-जटित स्वर्ण-स्तम्भ, ४ मन सोने की सांकल जिसमें घण्टा बन्धा रहता था। ५ गज़ ऊँची शिवजी की स्वर्ण-प्रतिमा। महमूद ने यह सभी कुछ लूट लिया। मन्दिर की हज़ारों सेविकाओं को अपने देश ले गया। शिवजी की प्रतिमा का एक टुकड़ा ग़ज़नी की मसजिद और एक टुकड़ा अपने महल की सीढ़ियों पर लगवा दिया।

अलबेरूनी ने हिन्दुओं की इस दुर्दशा का उल्लेख करते हुए लिखा है—"भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त है। देश में ऐसी कोई बड़ी राजसत्ता नहीं जिसके अधीन सारा देश संगठित हो जाए। छोटे-छोटे शासक परस्पर युद्धरत रहते हैं। ब्राह्मण अपने को उच्च मान कर सारे समाज पर आतंक जमाये रखने में व्यस्त हैं। विधवा स्त्रियों को सती कर दिया जाता है। विदेशों में आना-जाना निषिद्ध है।"

महमूद ग़ज़नवी के बाद मुहम्मद ग़ौरी ने भारत पर आक्रमण किया। इस समय भारत में दो सुदृढ़ हिन्दू राज्य स्थापित हो चुके थे। एक कन्नौज में राजा जयचन्द का और एक दिल्ली में महाराज पृथ्वीराज का। मुहम्मद ग़ौरी को पृथ्वीराज से कई बार हार खानी पड़ी, परन्तु अन्तिम बार वह सफल हो गया और महाराज पृथ्वीराज को बन्दी बना कर ग़ज़नी ले गया। इस समय भारत के अन्य शासक यदि पृथ्वीराज का साथ देते तो आज भारत का इतिहास और ही होता। किन्तु पृथ्वीराज के ही मौसेरे भाई और ससुर राजा जयचन्द ने मुहम्मद ग़ौरी का साथ दिया और भारत मां को मुगल दासता

की बेड़ियां पहना दीं। थोड़े ही समय के पश्चात् देश-द्रोही जयचन्द की भी वही गति हुई जो पृथ्वीराज की हुई थी। कन्नौज की लूट में ग़ौरी ४ हज़ार ऊँट सोने-चान्दी के लाद कर ले गया। एक हज़ार मन्दिर गिराये। हज़ारों ब्राह्मण और राजपूत बालाओं को पठान अपहरण कर ले गये। ग़ौरी भारत से जाते हुए अपने गुलाम कुतुबुद्दीन को भारत का शासक बना गया था। उसने भारत के विख्यात हिन्दू राज्यों रण-थम्भोर, ग्वालियर, कलिंग, गुजरात आदि को ध्वस्त कर दिया। बिहार में १२ हज़ार बौद्ध भिक्षु मौत के घाट उतार दिये। कुतुबुद्दीन के वंशज १०० वर्ष तक भारत पर शासन करते रहे। गुलाम वंश के बाद खिलजी भारत के शासक बने। अलाउद्दीन खिलजी का नाम भारतवासियों को विस्मरण न होगा जिसके रोमांचकारी और भयंकर कृत्यों का स्मरण कर आज भी हृदय काँप उठता है। 'फरिश्ता' के लेखक ने लिखा है कि अलाउद्दीन के अत्याचारों से लाखों हिन्दू इतने तबाह हो गये थे कि उनमें हज़ारों मुसलमानों के यहां मज़दूरी करके अपना पेट पालते थे। अलाउद्दीन का आदेश था कि किसी हिन्दू के घर ६ मास के गुज़ारे से अधिक कोई वस्तु न रहने दो। कोई भी अच्छा पदार्थ हिन्दुओं को खाने के लिए न दो। उनके सुन्दर लड़के-लड़कियों को भी उठा लाओ।"

इतिहास के विद्यार्थियों को स्मरण होगा कि इसी अलाउद्दीन के कारण जैसलमेर की २४ सौ और चित्तौड़ की १३ हज़ार राजपूत वीरांगनायें जौहर की ज्वाला में भस्म हो गई थीं और हज़ारों मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट की गई थीं। गुजरात के महाराजा कर्ण की महारानी को अलाउद्दीन ने

अपनी बेगम बनाया और उसकी बेटी को अपने लड़के की पत्नी बनाया।

इसके बाद तुग़लक वंश आया। उसने भी अत्याचारों की कड़ी को और आगे बढ़ाया। फिरोजशाह तुगलक ने कांगड़ा राजशाही को समाप्त किया। वहां के हिन्दुओं के गले में गोमांस के लोथड़े लटकाये और उन्हें बाज़ार में घुमा कर गोमांस खिलाया। एक ब्राह्मण को जीवित ही जला दिया। १३८९ में तैमूर ने ९२ हज़ार तातारियों को साथ ले भारत पर आक्रमण किया। भारत की राजधानी दिल्ली ने जो मार-काट उस समय देखी उसका उदाहरण कहीं नहीं मिलता। १५ वर्ष के ऊपर के जो भी व्यक्ति सामने आये सभी मृत्यु की गोद में सुला दिये गए। रक्त की नदियां दिल्ली की गोद में बह निकलीं। बाबर से औरंगज़ेब तक यह अत्याचार निरन्तर जारी रहे और तब तक जारी रहे जब तक दक्षिण से "चोटि राखि हिन्दुन की रोटि राखि सिपाहिन की" ध्वनि के साथ छत्रपति शिवाजी की तलवार के साथ हिन्दूधर्म का रक्तिम ध्वज न लहरा उठा और पंजाब में गुरु नानक, तेग बहादुर, गुरु अर्जुनदेव, गुरु गोविन्दसिंह और बहादुर बन्दा वैरागी ने मुगल अत्याचारों के विरुद्ध तलवार न उठा ली। इस समय तक हिमालय और राजस्थान के कतिपय राज्यों को छोड़कर सारा भारत मुगलों के अधीन हो चुका था। जहां-जहां हिन्दू राजाओं ने तलवार उठाई भी वह अन्य देशवासियों के बिना सहयोग के सफल न हो सके। आठवीं शताब्दी में भारत का जो पतन आरम्भ हुआ था यह तेरहवीं शताब्दी तक पूरा हो चुका था। कहीं भी आशा की किरण दृष्टिगत नहीं होती थी।

देश में ऐसा कोई शासक नहीं था जिसका सहारा पाकर

प्रजा को आशा की किरण मिलती। उसके लिए केवल ईश्वर-विश्वास के और कोई मार्ग नहीं रहा था। इस युग में जो सन्त महात्मा हुए उनमें कबीर, नानक, मीरा, सूर और तुलसी ने जो अपनी वाणी द्वारा जनता को सन्देश दिया, उसमें से कुछ जहां जाति के लिए जीवन का अमर सन्देश है वहाँ उत्कृष्ट साहित्य भी है। देश की इस दुर्दशा को देखकर गुरु नानक का हृदय तड़प उठा था और उनकी आत्मा करुणा से द्रवित हो गई थी। गुरु जी के इन शब्दों से उनके मन की पीड़ा व्यक्त होती है—

"हे ईश्वर! तुमने खुरासान पर तो कृपा की और भारत पर कोप। कोई सीधा तुम्हें लांछन न लगाये इसलिए यम रूप यवनों को अत्याचार करने यहां भेज दिया है। भगवान् अब दया करो। हिन्दू बहुत उत्पीड़ित हो चुके हैं। प्रभु आप तो सभी के समान हैं।"

जन्म और बचपन

गीता के अनुसार जब जब धर्म का नाश होता है अधर्म बढ़ जाता है तो अधर्म का नाश करने और धर्म की स्थापना के लिए किसी न किसी महापुरुष का उदय होता है जो असत्य का दमन कर सत्य की ज्योति प्रकाशमान करता है। गुरु नानक ने भी सत्य की ज्योति प्रकाशित कर असत्य के अन्धकार को दूर किया।

सम्वत् १५२६ कार्तिक पूर्णिमा (नवम्बर १४६९) का दिन पंजाब के इतिहास का ही नहीं, भारत के इतिहास में क्रांतिकारी दिन था। इसी पवित्र दिन लाहौर से ४० मील दूर तलवण्डी गांव (अब पाकिस्तान में) में सोढीवंश के वेदी परिवार में गुरु नानकदेव का जन्म हुआ था। यह स्थान अब ननकाना

साहिब के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान राय बुलार की जागीर थी। गुरु नानक जी के पिता कल्याणचन्द या कल्याण-राय इसी जागीर के पटवारी थे। माता तृप्ता जिनके गर्भ से गुरु जी का जन्म हुआ था, बड़ी धर्मशील हिन्दू महिला थीं।

जिस समय गुरु नानकदेव का जन्म हुआ भारत का शासन-सूत्र मुस्लिमों के लोदी वंश के हाथ में था। बहलोल खां लोदी दिल्ली का शासक था।

महापुरुषों का जीवन बड़ा निराला होता है। जन्मजात उनमें कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएँ होती हैं जो अन्य साधारण व्यक्ति में होनी कठिन हैं। कहते हैं गुरु नानकदेव जी का जब जन्म हुआ तो वह अन्य बालकों के समान रोये नहीं अपि तु मुस्करा पड़े, चारों ओर प्रकाश फैल गया तथा सौगन्ध से वातावरण सुरभित हो उठा। नानकदेव के पिता श्री कल्याणचन्द जी पक्के सनातन-धर्मी थे। बालक के जन्म लेते ही कुलपुरोहित पं० हरदयाल को बुलाया गया। पण्डित हरदयाल अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने लग्न और मुहूर्त विचार कर बताया कि यह बालक असाधारण गुणों को लेकर उत्पन्न हुआ है। इसका यश और प्रताप सारे ससार में व्याप्त होकर कुल को उज्ज्वल करेगा। बालक चक्रवर्ती जैसे लक्षणों से युक्त है। नक्षत्र व शक्ति के अनुसार उनका नाम नानक रखा गया।

बालक के भावी-जीवन का उसके बालपन की घटनाओं से ही आभास मिल जाता है। बालक नानक बचपन से ही होनहार था। शिशु नानक अपने संगी-साथियों से बड़े प्रेम से बोलते अपने घर की वस्तुएँ उठा कर उन्हें दे देते। माता और पिता उन्हें जो खाने के लिए देते वह भी वे अपने संगियों

में बांट देते। थोड़ा-सा बड़ा होने पर नानक घर की वस्तुएँ तथा अन्न-वस्त्र पास-पड़ोस के निर्धन लोगों को दे देते। माता प्यार से उन्हें समझातीं, परन्तु दयालुता और समता के गुण तो नानक में जन्मजात थे। उन्हें जितना रोका जाता वह उतना ही उस ओर बढ़ते। नानक का शैशव काल ऐसी अनेक अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण है।

नानक के पिता कल्याणराय व्यावहारिक व्यक्ति थे। वह जागीर के जिस पद पर काम करते थे वह उस समय बड़ी प्रतिष्ठा का स्थान समझा जाता था। कल्याणराय का समाज में आदर था। अनेक मनौतियों के बाद उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ था। सारा भविष्य उस पर ही निर्भर था। नानक उनकी अभिलाषाओं का एकमात्र केन्द्र था। परन्तु जब बालक नानक की बातें वह देखते तो उनका मन बड़ा ही निराश हो जाता।

सम्वत् १५३२ में जब नानक सात वर्ष के हुए तो कल्याण-राय उन्हें गोपाल पण्डित की पाठशाला में ले गये। गोपाल पण्डित ने उन्हें हिन्दी पढ़ानी आरम्भ कर दी, परन्तु बालक नानक कोई साधारण बालक तो था नहीं। पण्डित जी ने जो कुछ पढ़ाना होता नानक पहले ही सुना देता। जब गोपाल पण्डित लिखने को कहते तो वह ईश्वर-भक्ति के गीत गाते। वह पढ़ने-लिखने से अधिक ईश्वर-भक्ति में ही लीन रहते। एक दिन जब गोपाल पण्डित जी इन पर क्षुब्ध हुए तो नानक ने निम्नलिखित शब्द लिखे—

जालि मोहु घसि करि मति का गहु करि सारु।
करि चितु लिखा दी गुरु प्राप्ति जिखु विचारु॥
लिखि नाम सलाह लिखो जाणु, लिखि अन्तु न पारावार।
बाब इहि लेखा लिखि जाणु,
जिन्थे लेखा मांगिये तीथैं तेरे सच्चा निसाणु॥

अर्थात् मनरूपी लेखक ! मोह को भस्म कर त्याग की स्याही से बुद्धि के कागज़ पर प्रेम की लेखनी से सद्-विचार लिख और ईश्वर का नाम लिख, जिससे सत्य की पुष्टि हो।

नानक के मन में बालपन में ही सत्य को प्राप्त करने की धुन समा गई थी। साधारण पढ़ने-लिखने में उनका मन नहीं लगता था। गोपाल पण्डित से उन्होंने हिन्दी पढ़ी। तीन वर्ष बाद सम्वत् १५३५ में पण्डित वृजनाथ जी से संस्कृत पढ़ी। यद्यपि पण्डित वृजनाथ संस्कृत के बड़े विद्वान् थे परन्तु नानक जैसा छात्र पाकर वह अपने को धन्य मानते थे। कल्याणराय अपने पुत्र को सभी प्रकार से प्रवीण बनाना चाहते थे। हिन्दी-संस्कृत पढ़ा कर ही उन्होंने सन्तोष नहीं कर लिया अपितु सम्वत् १५३६ में उन्हें फारसी पढ़ाने के लिए मौलाना कुतुबुद्दीन के पास भेजा।

हिन्दू संस्कार विधि के अनुसार ११ वर्ष की आयु में नानकदेव का यज्ञोपवीत संस्कार किया गया। जब ब्राह्मण वेदमन्त्र उच्चारण करके उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराने लगे तो नानक ने कहा—मुझे ऐसा यज्ञोपवीत पहनाओ जो कभी नहीं टूटे और न बदल सके जिसमें दया का कपास और सन्तोष के तन्तु हों—

> दया कपाह सन्तोषू सूत जतु गढो सतु बहु
> एह जनेउ जीम का दई न पांडे घतु
> जा ऐहू न सुहे मल लगे ऐहु जले न जाहु।
> धन्न सुनाणक नानका जो गलि चले पाई ॥ —गुरु ग्रन्थसाहब

यह उस समय की बात है जब इस प्रकार की बात कहना भी घोर अपराध था। नानकदेव द्वारा इस प्रकार से यज्ञोपवीत के अवसर पर विवाद करने की चर्चा दूर-दूर तक फैल गई।

यह बात उल्लेखनीय है कि इस समय धर्म और संस्कार आडम्बर का रूप धारण कर चुके थे। यज्ञोपवीत धारण करना शुद्धता, सभ्यता और स्वच्छता का प्रतीक है। परन्तु इस काल में यह रीति मात्र ही रह गई थी। नानकदेव सुधारवादी थे। उनकी आत्मा समाज रूढ़ियों से विद्रोह कर उठती। वह सत्य का गला घोंटने को तैयार नहीं हुए। समाज ने उनका जितना विरोध किया वह अपने ध्येय पर उतने ही अटल रहे। बालावस्था का वह स्वतन्त्र चिन्तन व दृढ़ धारणा, दया समता और शक्ति उनके भावी जीवन की आधारशिला बन गई।

ज्यों-ज्यों नानक बड़े होते गये उनमें यह जन्मगत गुण दया-समता की भावना और भक्ति आदि बढ़ते गये। पिता को अपने पुत्र की यह बातें अखरने लगीं। वह पुत्र से जो कल्पना करते थे, उन्हें पूरी न होने की आशंका होने लगी। इसलिए उन्होंने नानकदेव को अपने घर के कामों में हाथ बटाने में लगाया। खेती-बाड़ी के काम पर तथा पशु चराने के लिए उन्हें भेज देते। वहां भी नानकदेव अपने साथियों को हरि कथा सुनाते और पशु लोगों की हरी-भरी खेती उजाड़ने लगते। कल्याणराय इससे भी बड़े क्षुब्ध रहते।

इधर नानकदेव दिन-प्रतिदिन संसार से उपराम होते गये। उनके मन में तो एक अनहद रागिनी छिड़ चुकी थी। उन्हें भव के बन्धन कैसे बांध सकते थे। परन्तु मां तो मां ही है। अपने इकलौते पुत्र की यह दशा देखकर उसका हृदय कराह उठा। मां ने समझा पुत्र को कोई रोग है। उसने वैद्य को बुलाया, परन्तु वैद्य क्या उपचार करता। नानक को कोई

शारीरिक व्याधि होती तब तो उपचार भी होता। जब वैद्य नानक की नाड़ी देखने लगा तो नानक ने कहा—

"वैद बुलाइया वैदगी पकड़ ढंढोले बांह।
भोला वैद न जांनई करक कलेजे मांहि ॥

वैद्य हरिदास ने नानक की यह बात सुनकर कल्याणराय से कहा—नानक को कोई रोग नहीं है। यह तो सारे विश्व का रोग दूर करने को उत्पन्न हुआ है।

सम्वत् १५४१ में जब नानक १५ वर्ष के हुए तो वह प्रायः घर से चले जाते और कई-कई दिन साधु-सन्तों की संगत करते। कल्याणराय पुत्र के इन कार्यों से बड़े चिन्तित थे। उन्होंने नानकदेव को व्यापार में उलझाने की योजना बनाई। उनका विचार था कि व्यापार में लगने से उन का मन वैराग्य से हट जायेगा। एक दिन कुछ रुपये देकर भाई बाला के साथ यह कह कर शहर भेजा कि वहां से कुछ सौदा लाएं जो लाभदायक भी हो। वह जब शहर जा रहे थे तो मार्ग में कुछ सन्त मिले। वह तीन दिन के भूखे थे। नानक को जब यह पता लगा तो उन्होंने पिता के दिये रुपयों की सामग्री मंगा कर उन साधुओं को भोजन खिला दिया और स्वयं लौट आये। परन्तु स्वयं घर न जाकर बाला को भेज दिया। स्वयं गांव के बाहर पेड़ के नीचे पड़े रहे। यह स्थान तम्बू साहब के नाम से प्रसिद्ध है। जब पिता को पता लगा तो वह बड़े क्रुद्ध हुए पर तलवण्डी के जागीरदार रायबुलार, जो साधु-सन्तों के बड़े श्रद्धालु थे, ने कल्याणराय को समझाया कि तुम कितने मूर्ख हो। तुम्हारे घर तो महापुरुष का अवतार हुआ है। कुछ रुपयों के लिए तुम उन्हें क्यों डांटते हो। उन्होंने तो सच्चा सौदा ही किया है। २० रुपये तुमने उसे दिये थे

उसके लिए उन्हें तंग करते हो।" रायबुलार ने २० रुपये देते हुए कहा—"नानकदेव जो धन व्यय करे उतना मुझसे ले जाया करो।" इससे कल्याणराय बड़ा लज्जित हुआ और घर लौट आया। परन्तु वह यह प्रयत्न करता रहा कि नानकदेव सुधर जाय।

इसके बाद नानकदेव अपनी बहिन नानकी के पास सुलतानपुर, जिला कपूरथला में आ गये और सुलतानपुर के नवाब दौलत खां के यहां मोदीखाने में काम करने लगे। नानकदेव कर्मयोगी थे। वह खाली बैठ कर किसी पर बोझ बनना नहीं चाहते थे। उनकी बहिन नानकी ने इस पर बुरा भी मनाया था परन्तु नानकदेव अपने निश्चय के पक्के थे। नानकदेव को यहां पर सुविधा हो गई कि नवाब के भण्डार से मनचाहा साधु-सन्तों को खिलाते पिलाते—'तेरा ही तेरा' गुनगुनाते हुए वह भण्डार से अन्न देते रहते। फूल के साथ पुष्पदल का हृदय छेदन करने वाले कांटे सदा रहते हैं। नानक जी से अन्दर ही अन्दर ईर्ष्या करने वाले नवाब के कर्मचारियों ने नवाब से नानकदेव की शिकायत की कि यह तो सारा भण्डार लुटा रहा है। यदि यही स्थिति रही तो सभी कुछ उजड़ जायेगा। परन्तु जब नवाब ने भण्डार की जांच की तो उसे पूरा पाया।

विवाह और गृहत्याग

२४ जेष्ठ सम्वत् १५४५ को नानकदेव का विवाह जिला गुरदासपुर के रणधावे के पक्खों गांव में मूलचन्द चीना की पुत्री लक्ष्मणा से हुआ। १५५१ में प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम श्रीचन्द था। श्रीचन्द बाद में उदासीन सम्प्रदाय के प्रवर्तक बने। वह बड़े विद्वान् और वीतराग थे। गुरु नानक

की दया और समता के सभी गुण इनमें द्विगुणित रूप से विद्यमान थे। भारत में उदासी सम्प्रदाय बड़ा प्रसिद्ध है। बाबा श्रीचन्द को इनके सम्प्रदाय के लोग अवतार मानते हैं।

नानकदेव का दूसरा पुत्र लक्ष्मीचन्द था। इनका जन्म १५५३ में हुआ था।

नानकदेव ने गृहस्थ धर्म का पालन किया परन्तु अपने जीवन को उन्होंने गृहस्थ के बन्धनों में बांधे नहीं रखा। ईश्वर-भक्ति की ज्योति सदा उनके मन-मन्दिर में ज्योतित रही। इससे उनकी कीर्ति बढ़ने लगी। दूर-दूर से लोग उनके पास ज्ञानचर्चा के लिए आने लगे। नवाब के मोदीखाने के काम में व्यवधान पड़ने लगा। सत्संग में ही उनका अधिक समय बीतता। इससे उनकी पत्नी असन्तुष्ट रहने लगी। दो बालकों के पालन-पोषण का दायित्व फिर गृहस्थ की अन्य व्यवस्था। नानकदेव इस से व्याकुल रहने लगे। उनका मन उपराम होने लगा। परिवार, पत्नी, पुत्रों का मोह उन्हें बांध न सका और एक दिन सभी ने सुना कि नानकदेव घर को त्याग कर संन्यासी हो गये हैं। नानकदेव सुलतानपुर के पास बहने वाली बेई नदी के तट पर बैठ कर ध्यानावस्थित रहे। कहते हैं कि यहीं उनको ज्ञान हुआ। वह तीसरे दिन घर लौट आये। तीन दिन की समाधि के पश्चात् नानकदेब ने धर्म का तत्त्व प्राप्त करने की घोषणा की—

'हिन्दू-मुस्लिम सभी परमपिता की सन्तान हैं जाति-पाति के भेद तो मानवकृत हैं।'

नानकदेव ने देश में व्याप्त जातिभेद के रोग को अनुभव कर लिया था। यह भी उन्होंने भाँप लिया था कि अब हिन्दू मुसलमानों को मिल कर इस देश में रहना है। यह तभी

सम्भव हो सकता है जब दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे के धर्म को और विश्वासों का आदर करें। समता का आदर्श स्थापित करने के सिवा और कोई मार्ग नहीं था। इन्होंने दोनों परस्पर विरोधी जातियों को मिलकर रहने के लिए समता का उपदेश देकर एक पृष्ठभूमि तैयार कर दी। यद्यपि दुर्भाग्य से ऐसा हुआ नहीं। दोनों जातियों का यह विद्वेष बढ़ता गया। अनेक बार उसने उग्र रूप धारण कर लिया। धर्मान्धता नंगी होकर नाची, परन्तु साधु-सन्तों का तो किसी मानव से द्वेष नहीं। वह किसी एक सम्प्रदाय या देश के न होकर सार्वभौम और सर्वकालिक होते हैं। नानकदेव भी जीवन-भर समता का प्रचार व प्रसार करते रहे। "मानवता सब से बड़ा धर्म है। सम्प्रदाय विशेष के सीमित धर्म के संकीर्ण घेरे में वह बंध नहीं सकता।"

हिन्दू-मुस्लिम को समान देखने व समता का उपदेश देने पर सुलतानपुर का नवाब बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने नानकदेव को मुलमान बनाने का प्रयत्न भी किया था, परन्तु नानकदेव जी तो हिन्दू-मुस्लिम के भेद-भाव की सीमाओं को लाँघ चुके थे, उन्हें कोई मुसलमान क्या बनाता।

नानकदेव के गृहत्याग का पता जब उनके माता-पिता को लगा तो वह बड़े दुःखी हुए। उन्होंने अपने मिरासी मरदाना को नानक का समाचार लेने सुलतानपुर भेजा। वीतराग नानकदेव को देख कर मरदाना बड़ा दुःखी हुआ। मरदाना गाता बड़ा अच्छा था। नानकदेव उससे रबाब पर—"तू ही निरंजन तू ही निरंकार नानक बन्दा तेरा।" पद्य घण्टों आत्मविभोर होकर सुनते रहते।

प्रथम यात्रा

१५५६ सम्वत् में जब कि उनकी आयु ३० वर्ष की थी उन्होंने सुलतानपुर त्याग कर भ्रमण करना आरम्भ कर दिया। यह इनकी प्रथम यात्रा थी। वह सुलतानपुर से चल कर ग्राम-ग्राम घूमते हुए लाहौर पहूँचे। मार्ग में साधु-सन्तों और फकीरों से मिलते, उनसे ज्ञानचर्चा करते तथा सभी जगह वह अपना प्रभाव छोड़ जाते। लाहौर से आप एमनाबाद गये और वहाँ से स्यालकोट। स्यालकोट (अब पाकिस्तान) में जहाँ आप एक बेरी के वृक्ष के नीचे ठहरे थे वह स्थान बेरी बाबा नानक के नाम से प्रसिद्ध है।

इस यात्रा में आप अपनी जन्मभूमि तलवण्डी आये थे इस समय तक आप के अनेक शिष्य बन गये थे। इन शिष्यों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी और वे नानकदेव से गुरु नानकदेव बन गये थे। तलवण्डी से चल कर आप छांगा-मांगा (पाकिस्तान) में ठहरे थे। उस स्थान को छोटा ननकाना कहा जाता है। यहाँ से आप सतलुज नदी को पार कर मालवा फिरोजपुर जिले के क्षेत्र में होते हुए कुरुक्षेत्र पहुँचे। इन दिनों सूर्य-ग्रहण का स्नान था। कहते हैं जब सूर्य-ग्रहण लगा हुआ था और लाखों धर्म-भीरु हिन्दू कुरुक्षेत्र के सरोवरों में स्नान कर रहे थे, तो गुरु नानकदेव ने मांस बनाना आरम्भ कर दिया। कुछ लोगों ने इनके इस कार्य का विरोध किया तो नानकदेव ने कहा—'न तुम्हारे इस स्नान से तुम्हारे पाप कटेंगे न मेरे मांसाहार से मुझे दण्ड मिलेगा। जो कृत्य हमने किये हैं उनका फल अवश्य भुगतना पड़ेगा।"

इससे स्पष्ट है कि नानकदेव जीवन के लिए पवित्र साधनों पर विश्वास रखते थे। कर्म कर लेने पर उसका फल अवश्य

मिलता है यह उनका विश्वास था। वह रूढ़िवाद के विरोधी थे। समाज को रूढ़ियों से ग्रस्त देख कर उनकी आत्मा व्याकुल हो उठी थी। वह स्थान-स्थान पर जा कर धर्म के आडम्बरों को त्याग कर शुभ कर्म करने का उपदेश देते थे। उन्होंने देश-देशान्तर की जो यात्राएँ की थी उनका भी यही उद्देश्य था। एक तो यह देश के सभी भागों में जाकर इसके प्रत्येक भाग के निवासियों का अवलोकन करना चाहते थे। दूसरे उन्होंने जो कुछ अनुभव किया था और ज्ञान प्राप्त किया था उसका संदेश देश को सुनाना चाहते थे। उस युग में देश-यात्रा के अतिरिक्त अपने विचार देश के जन-जन तक पहुँचाने का और कोई साधन नहीं था। गुरु नानक की यह यात्रायें बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई। इन यात्राओं में जहाँ वह देश के बड़े बड़े विद्वानों विचारकों, धर्म-गुरुओं तथा शासकों से मिले वहाँ साधारण जनता को समता और शान्ति का उपदेश देते रहे।

कुरुक्षेत्र से नानक वैसाखी के दिन सम्वत् १५६२ को हरिद्वार पहुँचे। वहाँ भी आप ने पण्डों की लूट का और आडम्बर का विरोध किया। हरिद्वार में जहाँ आप ठहरे थे वह स्थान नानक बाड़ा के नाम से प्रसिद्ध है। इस यात्रा में उनका चिरसंगी मरदाना इनके साथ था। हरिद्वार से नानकदेव मथुरा-वृन्दावन होते हुए आगरा गए। वहाँ गुरु जी की धर्मशाला अब भी प्रसिद्ध है। इसी धर्मशाला में आप ठहरे थे। आप अयोध्या भी गए। कुछ लोगों का कथन है कि वेदी वंश, जिसमें गुरुनानक का जन्म हुआ था, अयोध्या के सूर्यवंश से सम्बन्धित है। नानकदेव जी भगवान् श्री रामचन्द्र की जन्मभूमि अयोध्या के दर्शन कर सम्वत् १५६३ में काशी पहुँचे।

भारत की ज्ञाननगरी काशी में गुरु नानकदेव का आगमन विशेष उद्देश्य से पूर्ण था। गुरु नानक के समान ही प्रसिद्ध चिन्तक सन्त कबीर, महात्मा नामदेव, महात्मा रविदास यह तीनों सन्त काशी में ही रहते थे और तीनों ही सन्त-परम्परा के मुख्य स्तम्भ हैं। नानकदेव इन से मिले। इन सन्तों के विचार नानकदेव से मिलते-जुलते हैं। गुरु नानक मध्यममार्ग को लेकर चले थे। सभी उन्हें अपना समझते थे। कबीर कुछ कठोर स्वभाव के थे। उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त अनेक कुप्रथाओं की कटु आलोचना की थी। गुरुनानक ने भी इन कुप्रथाओं का विरोध किया है पर कटुता के साथ नहीं। उनका सुधार नम्रतापूर्वक और प्रेमपूर्वक था। कबीर, नामदेव, रविदास उस समय के विख्यात सन्त थे। उनकी कीर्ति सारे देश में व्याप्त थी, इन के सम्प्रदाय भी व्यापक थे। गुरु नानकदेव इस दृष्टि से भी उनसे मिलना चाहते थे और ज्ञानचर्चा करना चाहते थे। जिसे अध्यात्म की प्यास हो वह ज्ञानचर्चा से ही बुझती है।

काशी से आप पटना गये। वहाँ से हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ गया गये। इस यात्रा में आप बंगाल आसाम भी गये। जगन्नाथपुरी के दर्शन भी किये। आसाम में गुरु जी कामाक्षी देवी के दर्शन करने भी गये। इससे स्पष्ट होता है कि उनके मन में अपनी संस्कृति के लिए उत्कट प्रेम था। वह देश भर में अपने तीर्थों और धर्मस्थानों में गये वहाँ उन्होंने आडम्बर और झूठे धर्म की भर्त्सना की तथा सच्चे धर्म का उपदेश दिया। जहाँ गुरुदेव जाते वहाँ हजारों लोग उनके उपदेशामृत सुनने आते। वह एकेश्वरवाद का उपदेश करते। इस यात्रा में नानकदेव को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। कहीं-कहीं

धर्मान्ध लोग इन का विरोध भी करते, परन्तु नानकदेव जी के प्रेमव्यवहार और सदुपदेश से सब को अपना बना लेते।

इस यात्रा में जब नानकदेव अपने साथी मरदाना के साथ विंध्याचल पर्वत में पहुँचे तो वहाँ की आदिवासी गौड़ जाति के लोग ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नरबलि देते थे। इस जाति के लोगों ने मरदाना को पकड़ लिया और बलि के लिए अपने राजा के पास ले गये। जब गुरु नानकदेव ने गौड़ जाति के राजा को उपदेश दिया कि नरबलि देना जघन्य पाप है, सभी मानव ईश्वर के पुत्र हैं उनकी बलि लेकर वह कभी प्रसन्न नहीं हो सकता। इससे गौड़ राजा को ज्ञान हो गया और उसने मरदाना को छोड़ दिया।

इसके पश्चात् गुरु नानकदेव राजस्थान के अनेक नगरों से होते हुए नारनौल के स्थान से पंजाब लौट आये। फिर कुरुक्षेत्र, मालेरकोटला, जगराँवा होकर ११ पौष सम्वत् १५६६ के दिन सुलतानपुर पहुँचे। और दस वर्ष की यह दीर्घ यात्रा, जिसमें गुरु नानकदेव देश भर के गांव-गांव घूम कर उपदेश देते रहे, समाप्त हुई।

गुरु नानकदेव के सुलतानपुर लौट आने का समाचार सुन कर इनके पिता कल्याणराय सुलतानपुर आकर इन्हें तलवण्डी ले गये। नानक जी कुछ दिन तलवण्डी ठहरे। वहां लोगों ने आप का बड़ा आदर सत्कार किया।

दूसरी और तीसरी यात्रा

चार-पांच महीने विश्राम कर गुरु नानकदेव पुनः यात्रा पर चल पड़े। फिरोज़पुर के निकट सतलुज नदी पार कर आप भटिंडा आदि नगरों में उपदेश करते हुए बीकानेर पहुँचे।

इस यात्रा में आप जैसलमेर, जोधपुर आदि रियासतों में होते हुए मध्यप्रदेश गये। आप उज्जैन भी गये। वहां से आप रामटेक गये। जहां प्राचीनकाल में राजा अम्बरीष ने यज्ञ किये थे। आप इस यात्रा में सन्त नामदेव के जन्मस्थान आवड़ा भी गये। भक्त नामदेव से आप की गहरी मित्रता थी। दोनों सन्त ज्ञानचर्चा में लीन रहते। नामदेव के उपदेश 'गुरुग्रन्थ साहब' में भी संकलित हैं। नामदेव धर्म के बाह्याडम्बरों के बड़े विरोधी थे। जहाँ भी आप गये वहीं ऐसे लोगों से आपका विवाद होता। कनफटे योगियों, सिद्धों, नाथों के सम्प्रदायों के अनुयायियों की आप गलत मार्ग पर चलने पर भर्त्सना करते और उन्हें सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देते।

इसी यात्रा में नानक जी पाण्डोचेरी गये और वहाँ से रामेश्वरम् भी गये। वहाँ से आप श्रीलंका गये। कहते हैं लंका के महाराजा और रानी ने आपका बड़ा स्वागत किया। महारानी आपकी बड़ी श्रद्धालु बन गई थी। महारानी ने गुरु नानक से पति को वश में करने के लिए कोई जप-मन्त्र बताने को कहा—नानकदेव ने उसे उपदेश देते हुए कहा—"प्रिय लगने वाले वचन बोलना, पति के क्रुद्ध होने पर सहनशीलता से काम लेना और पति से कोई कपट न करके प्रेमी स्वभाव रखना—यही पति को वश में करने का मन्त्र है।" रानी इस उपदेश से बड़ी प्रसन्न हुई।

लंका से लौट कर गुरु जी शृंगवेरी मठ में ठहरे। यह मठ स्वामी शंकराचार्य द्वारा स्थापित किया गया है। यहां के महन्त ने आप का बड़ा स्वागत किया। आप कई दिन यहां ठहरे और उपदेश देते रहे। बम्बई नगर होते हुए आप पंचवटी भी गये। जहाँ वनवास के समय भगवान् राम रहे थे। उसके

पश्चात् आप गुजरात प्रदेश के नगरों में घूमते रहे। यहाँ आप प्रसिद्ध सन्त नरसी भक्त से भी मिले। नरसी भक्त ने गुरु जी का बड़ा सत्कार किया और ज्ञानचर्चा की। नानकदेव नरसी भक्त के पास कुछ दिन ठहरे रहे। इसी यात्रा में सोमनाथ के मन्दिर के दर्शन भी गुरु जी ने किये और भगवान् कृष्ण की नगरी द्वारिकापुरी भी गये। अमरकोट से खानपुर, बहावलपुर आदि से होकर लगभग सात वर्ष बाद तलवण्डी लौटे।

सम्वत् १५७२ में तलवण्डी का जागीरदार, जो गुरु नानक का बड़ा भक्त था, रोगग्रस्त हो गया। नानकदेव वहां १३ दिन तक ठहरे। रायबुलार के देहान्त के बाद वह तलवण्डी से सुलतानपुर आये। वहाँ कुछ दिन ठहर कर लाहौर आये। आप लाहौर रहना चाहते थे। लाहौर में भारी मात्रा में गो-वध होता था इससे गुरु जी को बड़ा क्षोभ हुआ। वह वहां से कलानौर ग्राम जिला गुरदासपुर में आ गये। यहीं करतारपुर नाम से अपना ग्राम बसाया। वहाँ मकान और धर्मशाला जनता ने बना दी। गुरु जी की पत्नी और दोनों पुत्र वहां आ गये थे। वहाँ खेती का कार्य कर गुरु जी अपने परिवार का निर्वाह करते। तीस वर्ष तक गुरु जी अपने परिवार के साथ वहां रहे।

१५ आश्विन सम्वत् १५७५ को नानकदेव जी ने तीसरी यात्रा आरम्भ की। इस यात्रा में आप कांगड़ा, पालमपुर, ज्वालामुखी, मण्डी, कुल्लू, चम्बा, शिमला, गंगोत्री आदि तीर्थों पर गये। इसी यात्रा में आप बदरीनारायण गये। यहां से आप वसुधारा होते हुए हिमालय को पार कर हेमकूट से आगे सप्तशृंग पर्वत पर गये। यहां से फिर उत्तरप्रदेश के गोरखपुर आदि स्थानों को देखकर सुलतानपुर लौट आये और फिर

करतारपुर (गुरदासपुर) चले गये। इस यात्रा में दो वर्ष लगे थे। इसी यात्रा में तिब्बत, भूटान और नेपाल तक नानकदेव जी गये थे।

विदेश-यात्रा

१७ वर्ष की ३ यात्राएं कर सारे भारतवर्ष को गुरु नानकदेव ने देख लिया था। विविध लोगों, विचारों, सम्प्रदायों, रीति-रिवाजों का अवलोकन और अध्ययन किया था। अब वे भारत के बाहर जाकर दूसरे देशों की संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। १७ वर्ष तक पैदल घूमते रहना यह कोई सरल बात नहीं है। अनेक संकट सहन कर पथ लांघ कर भूखे-प्यासे रह कर गुरु नानकदेव ने अपनी ये यात्राएँ पूरी की हैं। चौथी यात्रा में गुरु जी रोहताश्व पर्वत, सिंध, कराची, बिलोचिस्तान गये। यहां के हिंगलाज देवी के प्रसिद्ध मन्दिर में भी गये। यहां से अरब देशों में गये। मुसलमानों के प्रसिद्ध तीर्थ मक्का भी आप गये थे। वहां मुस्लिम मुल्लाओं से आपकी ज्ञान-चर्चाएँ हुई। वहां भी आपके उपदेशों से जनता बड़ी प्रभावित हुई। रोम, बगदाद, अफगानिस्तान, काबुल, कन्धार होते हुए आप पेशावर आये और वहां से कश्मीर आये। कश्मीर में आपका बड़ा स्वागत हुआ। यहां से आप एमनाबाद आये। यह उस समय की बात है जब मुगल बादशाह बाबर देश में लूटमार कर रहा था। एमनाबाद को भी उसकी सेना ने लूटा और अनेक लोगों को गिरफ्तार किया। इनमें नानकदेव भी पकड़े गये। जब बाबर को नानकदेव के पकड़े जाने का पता लगा तो उसने उन्हें छोड़ दिया।

गुरु नानकदेव ने मुगलों की लूट और भारत की दुर्दशा

का बड़े मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है। देश की पीड़ा से उनका सन्त हृदय द्रवीभूत हो जाता।

इसके पश्चात् गुरु जी करतारपुर आ गये और अपने अनुयायियों को ज्ञान-भक्ति का उपदेश देने लगे।

गुरु नानक की यह चार यात्राएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। सिख इतिहास में यह चार यात्राएँ "चार उदासियों" के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम तीन "उदासियों" (यात्राओं) में उन्होंने देश के विभिन्न भागों तिब्बत, भूटान, नेपाल, ब्रह्मदेश, श्रीलंका आदि की यात्रा की थी और अन्तिम यात्रा में आप विदेश गये विशेषकर मुस्लिम राष्ट्रों में। आपकी इन चारों उदासियों में आपका चिरसंगी मरदाना साथ रहा और उसका नाम भी गुरु नानकदेव के साथ अमर हो गया। इन यात्राओं में गुरु जी ने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत किया था।

देश-विदेश में घूमने के बाद गुरु जी स्थायी रूप से करतारपुर में ही विश्राम करने लगे। आपकी कीर्ति देश-विदेश में फैल चुकी थी। आपके शान्तिमय उपदेशों को जनता बड़े प्रेम से सुनती थी। आपकी वाणी से अमृत टपकता था। दूर-दूर से लोग आपके दर्शनों के लिए करतारपुर आते थे। गुरु जी ने अपने जीवन को बड़ा नियमित बना रखा था। वह प्रभातकाल में उठते और एक पहर दिन चढ़े तक ध्यान-मग्न रहते। ईश्वर-प्रार्थना के बाद दर्शनार्थियों से मिलते तथा उन्हें उपदेश देते। गुरु जी स्वयं भोजन की व्यवस्था देखते। दर्शनार्थियों की प्रत्येक सुविधा का वह स्वयं ध्यान-रखते। गुरु जी के आश्रम में सभी लोगों से समान व्यवहार होता था। शाम को धर्म-सभा होती। उनमें नानकदेव जी उपदेश देते। रात को सामूहिक कीर्तन होता। गुरु जी की

वाणी से अमृत बरसता था। उनकी भाषा बड़ी मधुर थी। इनका आश्रम प्राचीन ऋषि-आश्रमों के समान शान्तिदायक व आनन्द से भरपूर था। दीर्घ यात्राओं के पश्चात् आप यहां १५-१६ वर्ष तक रहे।

सम्वत् १६८० में गुरु जी के माता-पिता का देहान्त तलवण्डी में हो गया था।

सुधारक और समाज-सेवक

गुरु नानकदेव जी जाति और धर्म के रक्षक थे। उन्होंने जीवन-भर समाज की सेवा की। रूढियों का पूरी शक्ति से विरोध किया। उनका अपना जीवन बड़ा सरल था। कोई लोभ-लालच उनके मन में नहीं था। उनका जन्म मध्यम परिवार में हुआ था। मध्यम स्तर के परिवार में जन्म लेने वाले लोग सर्वानुभवी होते हैं। सभी प्रकार की परिस्थितियों का परिचय उन्हें रहता है। समाज के अधिक निकट मध्यम मध्यवित्त परिवार ही होते हैं। सामाजिक कुरीतियों और रूढियों में भी अधिक ग्रस्त ये मध्यम परिवार ही होते हैं। इसलिए नानकदेव ने भी तत्कालीन समाज का दर्शन बड़ी निकटता से किया था। गुरु नानकदेव किसी घटना विशेष से प्रभावित होकर संसार से विरक्त नहीं हुए थे। जन्म से ही वे वीतराग थे। मोह उन्हें छू तक नहीं गया था। भय उनके समीप नहीं आ पाता था। सत्य उनका संगी था। यही कारण है कि उन्होंने देश के स्थान-स्थान पर जाकर अपने उद्देश्यों का प्रचार किया।

उनके पिता श्री कल्याणराय व्यावसायिक वृत्ति के व्यक्ति थे। वह अपने पुत्र को व्यावहारिक रूप से कुशल बनाना चाहते थे। इसलिए उस समय जितनी शिक्षा उपलब्ध हो सकती थी

नानक को दी गई। हिन्दी, संस्कृत, फारसी की पढ़ाई उन्होंने की। परन्तु ज्ञान अक्षरों में सीमित नहीं है, वह हृदय का दीपक है। जिस मन में वह आलोकित हो जाये वह स्वयं प्रकाशमान होकर संसार को भी प्रकाशित करता है। गुरु नानकदेव के दिल में भी यह दीपक प्रकाशमान था। उसके प्रकाश से वह स्वयं प्रकाशित होकर संसार को भी प्रकाशित कर गये।

गुरु नानकदेव संसार में रह कर संसार के सभी व्यवहार पूरे करते हुए भी संसार से कमल की भाँति निर्लिप्त रहे। उनका विवाह हुआ, सन्तान हुई परन्तु उसका मोह उन्हें बांध नहीं सका, न उन्होंने गार्हस्थ्य की उपेक्षा ही की। पत्नी, माता-पिता और पुत्रों के प्रति भी उन्होंने अपने कर्त्तव्यों को पूरी तरह निभाया। जब भी वे लम्बी यात्राओं पर जाते अपने माता-पिता का आशीर्वाद लेकर जाते और लौट कर उनके दर्शन करते। सारे देश में उनकी ख्याति फैल जाने पर भी उन्होंने गृहस्थ का त्याग नहीं किया। अपि तु जब उन्होंने अपनी दो बड़ी यात्रायें पूरी कर लीं तो "करतारपुर" आश्रम की स्थापना कर अपनी पत्नी और बालकों को वहां ले गये। उनकी शिक्षा-दीक्षा की पूर्ण व्यवस्था की, सन्तान-मोह में वह नहीं बंधे। उन्होंने अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी अपने पुत्रों को नहीं बनाया। यद्यपि उनके जेष्ठ पुत्र श्रीचन्द में वे सभी गुण थे जो उनमें थे। परन्तु नानकदेव ने गद्दी अपने प्रिय शिष्य अंगददेव को ही दी थी। उन्होंने अपने जीवन से सिद्ध किया कि ईश्वर प्राप्ति के लिए गृहस्थ त्याग की आवश्यकता नहीं है। गृहस्थ में रहते हुए भी ईश्वर प्राप्त किया जा सकता है। युवावस्था में ही नानकदेव जी ने गहस्थ के सुख को लात मार

दी थी। जब संसार के सुखों का अभाव हो तब त्याग की क्या महत्ता। जब सभी सुख उपलब्ध हों उनका उपभोग न करना ही सच्चा त्याग है। गुरु नानकदेव जी ऐसे ही त्यागी थे।

गुरु नानकदेव बड़े शान्त स्वभाव के थे। बड़े से बड़े आपत्-काल में भी उन्होंने अपने मन की शान्ति नहीं खोई। जीवन में अनेक बड़े से बड़े संकटों का बड़े धैर्य से उन्होंने सामना किया। बदला लेने की भावना उनमें नहीं थी। वह सहज क्षमाशील व परोपकारी जीव थे। बचपन में ही अपने घर की वस्तुएँ गरीब साथियों को बांट देते। पिता ने व्यापार के लिए कुछ रुपये देकर भेजा तो उनसे भूखे संन्यासियों को भोजन खिला दिया। नवाब की मोदी में मनचाही मात्रा में लोगों को अन्न बांटते रहे। जब श्रद्धा से कोई भेंट चढ़ाता उसे वह उसी समय लोगों में बांट देते। उनके श्रद्धालु धन, वस्त्र विपुल मात्रा में उनको देते थे परन्तु उसमें से नानकदेव अपने पास कुछ भी नहीं रखते। सभी दीन-दुःखियों में बांट देते।

जगद्गुरु शंकराचार्य की भांति वह महान् यात्री थे। देश की तीन-चार बार यात्रा कर अपने विचारों का प्रचार किया। वह लंका, अफगानिस्तान, ईरान, अरब, रोम आदि देशों में भी गये। ईरान और ईराक में आज भी पीर नानक के नाम पर मेला लगता है। देश में वह जहां-जहां भी गये और ठहरे उनके नाम की धर्मशालायें बनाई गई उनमें बहुत-सी अभी तक विद्यमान हैं।

वह सच्चे सुधारक थे। तत्कालीन हिन्दु समाज में अनेक बुराइयां घर कर गई थीं। नानकदेव ने सच्चे सुधारक की भान्ति उन बुराइयों को दूर किया। ऊँच-नीच की भावना

से हमारा समाज पंगु बन रहा था, नानकदेव ने इस भेद-भाव को मिटाया। दक्षिण में नामदेव और रविदास चमार आदि निम्न जातियों से सम्बन्ध रखते थे, गुरु नानक ने सभी को गले लगाया। वह अपनी यात्राओं में उनके पास ठहरे। गुरु ग्रन्थसाहब में उनकी वाणियां भी संकलित हैं। गुरु नानकदेव की वाणियां भी गुरु ग्रन्थसाहब में संकलित हैं। गुरु ग्रन्थसाहब गुरुओं तथा अन्य प्रमुख सन्तों की वाणियों का संग्रह है। इसमें मुहला पहला में गुरु नानक की वाणियां हैं। शेष अन्य गुरुओं और सन्तों की।

देहावसान

सम्वत् १५९५ में आश्विन शुक्ल १०वीं, १२ सितम्बर सन् १५३९ के दिन ७० वर्ष को आयु में गुरु नानकदेव ने इहलीला समाप्त की।

डा० गोकुलचन्द नारंग के शब्दों में—"गुरु जी के व्यक्तित्व में इतनी आकर्षण शक्ति थी कि सहस्रों मानव उनके अनुयायी बन गये। कर्नल कनिंघम के शब्दों में—उनका सद्व्यवहार, एकाग्रता और ईश्वर-निष्ठा प्रशंसा की बातें है, "उन्होंने बहुसंख्यक लोगों को अपने उपदेश से उत्साहित और कर्मठ तथा दृढ़ विश्वासी शिष्य बनाया और उन्होंने सर्वसम्मत सत्य धर्म का प्रसार किया। उनकी वाणी विवेक तथा आत्मोत्सर्ग के उपदेशों से पूर्ण है।"

ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी

ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की त्रिवेणी में अवगाहन कर गुरु नानकदेव ने अपने जीवन के द्वारा जिस मूर्तिमान् आदर्श को सामने रखा था उसने उनके शेष नौ उत्तराधिकारी गुरुओं

को पूर्णतः अनुप्राणित किया। उन्होंने आध्यात्मिकता के योग द्वारा व्यावहारिक जीवन को अत्यधिक उदात्त स्वरूप प्रदान किया था। मनुष्य के आत्मबल को दृढ़ कराने में आध्यात्मिकता ही परम सहायक होती है। हम देखते हैं कि गुरु अर्जुनदेव और गुरु तेगबहादुर ने हिन्दू जाति की रक्षा के लिए हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान कर अपनी असीम आत्म-शक्ति का परिचय देकर आततायी मुगलों की भौतिक शक्ति का उपहास कर दिखाया। दशम गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में जिस खालसा भ्रातृ-मण्डल की स्थापना हुई उसने अपनी अमोघ शक्ति के द्वारा प्रबल मुगल शासन की नींव को इस तरह हिला दिया कि कुछ ही काल में मुगल शक्ति का महल धराशायी हो गया।

जब से मानव ने अपने अज्ञानभरे नेत्रों को खोल कर सृष्टि को प्रथम बार निहारा है तब से लेकर आज तक एक प्रश्न सदा उसकी बुद्धि को चुनौती देता रहा है। वह प्रश्न है, "क्या इस दृश्यमान नश्वर जगत के पीछे कोई ऐसी अजर अमर अविनाशी सत्ता है जिसके बोध में सृष्टि के रहस्य की कुंजी छिपी हुई है?" इस अनादि प्रश्न का उत्तर विश्व के महानतम मनीषियों ने देने का प्रयत्न किया है। भारतीय चिंतन धारा में समय-समय पर अनेकानेक तत्वदर्शियों ने इस प्रश्न के अनेक समाधानकारक उत्तर दिये, परन्तु वे अनेक उत्तर मिल कर एक ही सत्य की ओर संकेत कर रहे हैं। अतः, इस पहेली का भारतीय उत्तर तत्त्वरूप से एक ही है। उस एक की अर्चना करते हुए गुरु नानकदेव कहते हैं—

एक ओंकार सतिनाम करता पुरख निरभउ निरवैर अकाल मूरति।
अजूनी सैभं गुरुप्रसादि॥

उसी ओंकार शब्द के तत्त्व के विषय में गुरु नानक कहते हैं—

एक ओंकार हमारा खाविंद, जिन हम बनत बनाये।
उसको त्याग अवर को लागै, नानक सो दुख पाये॥

भगवान् शंकराचार्य के "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" के समान नानक की घोषणा है—

ज्यों सपना अरु पेखना, ऐसा जग को जान।
इसमें कुछ सांचो नहीं, नानक बिन भगवान्॥

पर यह अमर तत्त्व है कहां ? क्या सातवें आसमान पर है ? नहीं। वह तो सब में है। जीव में छिपा हुआ है—

घट में बसे सूझे नहीं, लानत ऐसी जिन्द।
नानक या संसार को भयो मोतिया विंद॥

यह मानव देह भगवान् का मन्दिर है—

काइया महलु मन्दरू घरू हरि का,
तिसु महि राखि जोति अपार।
नानक गुरु मुखि महकि बुलाइये, हरि मेले मेलणहार॥

वे पुनः गाते हैं—

मन मन्दरू तनु वेस कलंदरु, घट ही तीरथ नांवां।
एक सबद्दु मेरे प्रानि बसते हैं, बाहुड़ि जनमन आवां॥

माया के आवरण से ही हमारे नेत्रों को उस परम तत्व के दर्शन नहीं होते। इसी कारण हम दुख भी पाते हैं—

साधो यह जग भरम भुलाना,
राम नाम का सिमरन छाड़ियो माया हाथ बिकाना॥

जीवन अनेक जन्मों के मलीन संस्कारों से पुनः विषय रूप विष को ही खाने दौड़ता है—

अन्तर बसे न बाहर जाई, अमृत छोड़ि काहे विष खाई।

पर गुरु नानक तो निरन्तर अपने प्यार के प्रेम में लीन हैं, वे सच्चिदानन्द की लीला के सांझीदार हैं। उनका नशा बड़ा अद्भुत है—

जेते नशे संसार के उतर जाहीं प्रभात,
नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात ॥

नानक का तो प्राणाधार ही वही है उसका नाम लेने में ही नानक का जीवन है—

आखां जीवां बिसरे मर जावां, सो मैं बिसर न जाई।

वे विरह की वाणी में पुकारते हैं—

जब लगि दरशे न परसै प्रीतम, तब लगि भूखि पियासी।
दरसनु देखत ही मन मानिया जल रसि कमल बिगासी ॥

गुरु नानक उसी परम ज्योति के द्रष्टा थे जिसके बारे में उनकी साक्षी है—

सब महं जोति जोति है सोई।
तिसके चानणि सबमहिं चानण होई ॥

कवि भक्त शंकरदेव

[१४४९–१५६९]

●

महेन्द्र कुलश्रेष्ठ

का प्रसिद्ध पीठ खड़ा हुआ, और सम्भवतः इसी सम्बन्ध से असम मात्र को कामरूप नाम प्राप्त हुआ।

कामाख्या का यह हृदयहारी प्रभाव असम के लिए अमिट सिद्ध हुआ। जो बौद्धधर्म भारत ही नहीं, विदेशों में भी—जिनमें तिब्बत और मंगोलिया जैसे असम के समान गहन पर्वतीय प्रदेश भी सम्मिलित हैं—आग की लपटों की तरह फैला, वह असम में रंचमात्र भी प्रवेश नहीं पा सका। इसी तरह शंकराचार्य जैसे धर्मप्रवर्तक नेता का भी, जो ९वीं शताब्दी में स्वयं असम गये, असम ने कोई प्रभाव स्वीकार नहीं किया। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से यह वास्तव में आश्चर्य का विषय है। देवी ने अपने पति, शिव के अतिरिक्त किसी के भी प्रभाव में आने से इनकार कर दिया। इससे बढ़कर निष्ठा का उदाहरण सम्भवतः अन्य नहीं हो सकता।

यह स्थिति पन्द्रहवीं शताब्दी तक चलती रही। इस समय तक शाक्तधर्म का अत्यधिक पतन हो गया और उसमें वह स्फूर्ति और बल शेष नहीं रहा जो पहले था। अब उसमें कापालिकों, वज्रयानियों तथा अन्य क्रूरकर्मियों का बोलबाला था। कोई भी धर्म अथवा जीवन पद्धति एक निश्चित समय से अधिक जीवित नहीं रहती और शक्तिपूजा का यह समय बहुत पहले ही बीत चुका था। इसलिए अब प्रदेश के धार्मिक जीवन में एक परिवर्तन या क्रांति की आवश्यकता थी। परन्तु यह उतना सरल नहीं था क्योंकि पुरानी रूढ़ियाँ सूखकर पत्थर बन चुकी थीं।

भक्त कवि शंकरदेव ने यह कार्य किया। उन्होंने १२० वर्ष के अपने सुदीर्घ जीवन काल में शाक्तधर्म, जीवन और परम्पराओं को नष्ट किया और उनके स्थान पर वैष्णवधर्म

की प्रतिष्ठा की। असम की जनता के लिए यह परिवर्तन अत्यन्त क्रांतिकारी था क्योंकि यह क्रूर के स्थान पर कोमल की स्थापना थी। साथ ही यह भारत के साथ असम की एकता का भी नव सूत्रपात था क्योंकि उस समय, असम को छोड़कर, देश भर में वैष्णवधर्म के ही विभिन्न रूप प्रचलित थे।

शंकरदेव के सभी पूर्वज शाक्त थे और उनके शिष्य माधवदेव आदि ने भी शाक्तधर्म छोड़कर ही वैष्णवधर्म अंगीकार किया। उन्होंने विपुल साहित्य की रचना भी की और उनके बरगीत घर-घर मे अत्यन्त लोकप्रिय हुए। असंख्य रूपक नाटकों की रचना कर उन्होंने जनता के लिए भक्ति का स्वरूप साकार किया। इस तरह उन्होंने असम के साहित्यिक जीवन को भी बहुत दृढ किया।

शंकरदेव ने कई बार सम्पूर्ण भारत की यात्राएं कीं और विपुल अनुभव प्राप्त किये। रामानन्द, चैतन्य, कबीर आदि उनके समकालीन थे। कहते हैं, वे इन सब से मिले भी थे। इन भेंटों का ही परिणाम यह हुआ कि वे सम्पूर्ण देश में चल रही धार्मिक परम्परा से अपने जन्म प्रदेश को संयुक्त कर सके। महानता में भी वे रामानन्द, चैतन्य, कबीर, तुलसी आदि के ही समकक्ष हैं। यह खेद की बात है कि देश के अन्य भागों का ध्यान अभी उनकी ओर नहीं गया है और उनका साहित्य तो क्या, उनका नाम भी हमें ज्ञात नहीं है। नवयुग में यह कमी शीघ्र पूर्ण की जानी चाहिए।

जन्म और बचपन

कवि भक्त शंकरदेव का जन्म सन् १४४९ के आश्विन मास की सुदी दशमी के दिन नवगाँव जिले के बरदोवा नामक ग्राम में हुआ था। वे असम के सुप्रसिद्ध भूयाँ कायस्थ परिवार के रत्न थे। ब्राह्मण न होने पर भी ये अत्यन्त धनी और कुलीन परिवार थे और इन्हें राजा की ओर से भूमि प्राप्त होती थी। शंकर के पिता कुसुमबर भूयाँ का परिवार उन सब में भी श्रेष्ठ था और उसे शिरोमणि भूयाँ का नाम प्राप्त था। कुसुमबर के दादा चंडीबर का असम के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जन्म के तीन दिन पश्चात् ही शंकर की माता का देहान्त हो गया। इसलिए उनकी दादी ने उनका पालन-पोषण किया। उच्च और सम्पत्तिशाली कुल में जन्म लेने के कारण शंकर का बचपन सुखी और सब प्रकार के आमोद-प्रमोदों से भरपूर था। वे दिनभर घर से बाहर रहते और या तो शिकार आदि में लगे रहते या ब्रह्मपुत्र में अपने साथियों के साथ तैरते रहते। उनकी यह आमोदप्रियता आवश्यकता से कुछ अधिक ही थी क्योंकि पढ़ने लिखने की ओर उनका ध्यान बिलकुल भी नहीं था। स्वभावत: उनके बुजुर्ग इससे चिन्तित रहते थे।

एक दिन उनकी दादी माँ ने भोजन के समय उनको खूब डाँटा। उन्होंने कहा कि तुम्हारे सब पूर्वज बड़े पण्डित और विद्वान् हुए हैं, तुम ही अपढ़ रहकर परिवार का नाम डुबाओगे। शंकर को यह बात चुभ गई और उन्होंने दादी माँ से अपनी शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए कहा। इस समय उनकी अवस्था १२ वर्ष की थी।

उन दिनों पण्डित महेन्द्र कन्दली की टोल अपनी शिक्षा और विद्यार्थियों के उच्च स्तर के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थी। स्वयं महेन्द्र कन्दली भी अपने समय के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। शुभ मुहूर्त में शंकर को उनकी टोल में भरती कराया गया। शिक्षा आरम्भ होते ही उन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय देना आरम्भ कर दिया। जैसे ही उनका स्वर-वर्ण का ज्ञान पूर्ण हुआ, उन्होंने एक अत्यन्त सरस कविता की रचना कर डाली :

करतल कमल कमल दल नयन
भवदव दहन गहन वन शयन
नपर नपरपर सतरत गमय
सभय मभय भय ममहर सतय
खरतर वरशर हत दश बदन
खगचर नगधर फनधर शयन
जगदघ मपहर भवभय तरण
परपद लयकर कमलज नयन

यह कविता पावन स्मृति के रूप में असम के प्राचीन जीवन-चरित लेखकों द्वारा सुरक्षित है। महेन्द्र कन्दली अपने नये शिष्य की इस प्रतिभा से अत्यन्त चकित और प्रसन्न हुए।

परन्तु फिर भी खेल-कूद से शंकर का मन नहीं हटा। वे अक्सर टोल से गायब रहते थे और अपने साथियों के साथ नदी में डुबकियाँ लगाते होते थे। एक दिन उन्होंने अपने गुरु को कुछ वस्त्र और धन देकर एक दिन की छुट्टी लेनी चाही। गुरु ने छुट्टी तो दे दी परन्तु शाम को यह कथा उनकी दादी को सुनायी। फल यह हुआ कि दादी माँ ने शंकर की अच्छी तरह खबर ली और उन्हें खूब डाँटा फटकारा। इसके बाद

वे पढ़ने में अपना ध्यान पूरी तरह लगाने लगे और शिकायत का अवसर नहीं आने दिया।

'देव' उपाधि साधारणतया ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित है और शंकर को यह उपाधि कैसे प्राप्त हुई, इसकी एक मनोरंजक कथा है। एक एकादशी के दिन, जब टोल की छुट्टी हो गयी थी और सभी विद्यार्थी अपने घरों को जा चुके थे, शकर खाली स्कूल में नींद आ जाने के कारण सो गये। सूरज की धूप और गर्मी बहुत तेज थी और एक सर्प अपना फन फैलाकर उसे इनके सिर पर पड़ने से रोके हुए था। दैववशात् महेन्द्र कन्दली उधर आ गये और उन्होंने यह दृश्य देखा। सर्प तो उनकी आहट से चला गया परन्तु वे आश्चर्य में पड़ गये। उनको शंकर की भावी महानता और सफलता में विश्वास हो गया और उन्होंने अपने शिष्यों को शंकर को शंकरदेव नाम से पुकारने की आज्ञा दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने शंकर को स्कूल की सफाई आदि करने से भी मुक्त कर दिया जो ब्राह्मण-अब्राह्मण सभी छात्रों के लिए अनिवार्य थी।

परन्तु टोल के ब्राह्मण विद्यार्थियों में इतनी उदारता कहाँ ? उन्होंने इसका विरोध किया और कई अन्य पण्डितों ने भी उनको उकसाकर महेन्द्र कन्दली को अपने निश्चय से डिगाना चाहा। कायस्थ विद्यार्थी को यह सम्मान दिया जाना उनकी वर्ग भावना को सह्य नहीं था। लेकिन महेन्द्र कन्दली ने उनके विरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया और वे अपने निश्चय पर अटल रहे। कालान्तर में शंकर ने स्वयं अपनी योग्यता से उनकी भविष्यवाणी को पूर्ण कर दिखाया।

अपने शिक्षण-काल में ही शंकरदेव ने योग साधना भी आरम्भ कर दी। कहते हैं, उन्होंने अपनी साधना के चमत्कारों

से लोगों को चकित कर दिया। साथ ही उन्होंने संस्कृत भाषा, साहित्य और पुराणों का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। शिक्षा समाप्त करके जब वे घर आये तब उनकी वैराग्य प्रवृत्ति देख कर उनके पिता को अत्यन्त क्लेश हुआ। सांसारिक कार्यों से शंकरदेव को अरुचि थी और अपना सारा समय वे साधना आदि में ही बिताते थे।

उनके पिता ने यही उचित समझा कि उन्हें विवाह के बंधन में डाल दिया जाय। इसलिए सूर्यवती नामक एक कायस्थ कन्या से उनका पाणिग्रहण हुआ। तब शंकरदेव की अवस्था २३ वर्ष की थी। परन्तु एक बालिका को जन्म देने के पश्चात् तुरन्त ही उसका देहान्त हो गया।

यह घटना भी शंकरदेव में वैराग्य बढ़ाने का कारण बनी। परन्तु बालिका का पालन-पोषण आवश्यक होने के कारण वे घर नहीं छोड़ सकते थे। जब वह इतनी सयानी हो गयी कि उसका विवाह किया जा सके, तब हरी नामक एक कायस्थ युवक के साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार करके वे घर से निकल पड़े। यह सन् १४८३ की बात है। इस समय उनकी अवस्था ३५ वर्ष के लगभग थी और १७ शिष्य इस यात्रा में उनके साथ थे। इनमें उनके पुरोहित राम राम और गुरु महेन्द्र कन्दली भी सम्मिलित थे।

एकशरण धर्म का प्रचार

बारह वर्ष तक शंकरदेव भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करते रहे। उनकी इस यात्रा का व्यौरेवार विवरण देना तो सम्भव नहीं है, हाँ, उसकी मुख्य घटनाएँ अवश्य बतायी जा सकती हैं। पहले उन्होंने पुण्यसलिला गंगा में स्नान

किया, फिर गया गये। इसके पश्चात् उन्होंने सुप्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर के दर्शनार्थ पुरी की यात्रा की। इसके बाद उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की लीला भूमि, वृन्दावन की ओर प्रयाण किया। यहाँ उन्होंने एक धार्मिक विवाद में स्थानीय पण्डितों को परास्त किया। फिर वे मथुरा और द्वारिका गये जिससे श्रीकृष्ण का समस्त कार्यकलाप हृदयंगम किया जा सके। द्वारिका यात्रा में उनके साथ दो ही शिष्य थे। फिर उन्होंने काशी, प्रयाग, अयोध्या आदि की यात्रा की।

इस दीर्घकालीन यात्रा ने उनके जीवन और प्रवृत्ति को बिलकुल बदल दिया। आरम्भिक अध्ययन और योग-साधना से जो भूमि तैयार हो चुकी थी, उसमें भक्ति का बीज पड़ा और प्रस्फुटित हुआ। देश भर की यात्रा से उन्होंने यह जान लिया कि वैष्णव धर्म ही असम का उद्धार कर सकता है, और उसका प्रचार किया जाना चाहिए। सम्भवतः, इसलिए भी उन्होंने अपनी यात्रा में बहुत वर्ष लगाये जिससे वे वैष्णव धर्म के सभी पहलुओं का भली-भाँति अध्ययन कर सकें। इन्हीं दिनों उन्होंने कुछ और कविताओं की भी रचना की जिनसे उनकी भावी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। इनमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गोविन्द के अतिरिक्त अन्य कोई मुक्ति का उपाय नहीं है।

असम लौटकर उन्होंने जिस धर्म की नींव डाली, उसे 'एकशरण' धर्म कहा जाता है। इसका अर्थ है एकमात्र रक्षक भगवान् विष्णु की शरण में जाना। इस समय उनकी अवस्था ४७ वर्ष की था। उनके सम्बन्धियों तथा मित्रों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। सभी उनकी यात्रा का वृत्तांत सुनने के लिए चारों ओर एकत्र हो गये।

इसी समय उन्होंने अपने प्रथम नाटक, चिह्न यात्रा, की रचना की। यह यद्यपि अप्राप्य है परन्तु इसमें सातों वैकुंठ और पृथ्वी के चित्रण किये गये है। स्वय शकरदेव ने अपने हाथों से कैनवास पर इनके चित्र बनाये थे। नाटक खेलने के लिए उन्होंने विशेष प्रकार के वाद्य यन्त्र भी तैयार कराये। इस तरह उन्होंने अपने मित्रों को न केवल अपनी यात्रा का अपितु अपने भावी धर्म का भी परिचय दे दिया।

उनके कुटुंबियों ने उन्हें भूयाँ वंश का प्रमुख बनाने की इच्छा प्रकट की परन्तु उन्होंने इसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया और प्रार्थना तथा ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करने का निश्चय प्रकट किया। उन्होंने कविता, गीत, नाटक आदि की रचना करके अपने नये धर्म का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। तीर्थयात्रा के उनके साथी श्रीराम, बलराम, सर्वज्ञ आदि ने ही सर्वप्रथम नये धर्म की दीक्षा स्वीकार की।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि शंकरदेव ने अपनी यात्रा के समय ही लोगों को एकशरण धर्म में दीक्षित करना आरम्भ कर दिया था। मथुरा, ब्रज, गोकुल आदि के कुछ व्यक्तियों के नाम भी, जिन्होंने यह धर्म स्वीकार किया था, ये लोग बताते हैं। जो हो, यह धर्म असम में ही विशेष रूप से फैला, इसमें संदेह नहीं। यातायात को असुविधा के उस युग में किसी भी धर्म का अपने प्रदेश से बाहर फैलना सम्भव भी नहीं था।

भागवत पुराण वैष्णव धर्म का प्रमुख ग्रन्थ है। कहते हैं, शंकरदेव का इस ग्रन्थ से परिचय एक चमत्कारिक घटना द्वारा हुआ। तिरहुत का एक पण्डित पुरी गया और उसने भगवान्

जगन्नाथ के समक्ष सम्पूर्ण भागवत का पाठ किया। पाठ पूर्ण होने पर रात को स्वप्न में जगन्नाथ जी ने उसके सामने प्रकट होकर कहा कि तुम यह ग्रन्थ असम जाकर शंकरदेव को सुनाओ। पण्डित बेचारा भगवान् का आदेश कैसे टाल सकता था। उसने असम की राह ली और शंकरदेव को ढूंढना आरंभ किया। पर्याप्त परिश्रम के पश्चात् शंकरदेव से उसकी भेंट हुई। उसने भागवत का पाठ किया और शंकरदेव ने उसे सुना। इसके पश्चात्, कहते हैं, ब्राह्मण का देहान्त हो गया।

यदि यह घटना सच हो, तो निश्चय ही शंकरदेव पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा होगा। उनको यह विश्वास हो गया होगा कि भगवान् उनसे असम में वैष्णव धर्म का प्रचार कराना चाहते हैं। इससे भागवत धर्म और श्रीकृष्ण में उनके रहे-सहे सन्देह भी नष्ट हो गये होंगे। सम्पूर्ण निष्ठा और आत्मिक समर्पण सभी भक्तिवादी धर्मों की विशेषता है और यह विशेषता अब शंकरदेव को पूर्णतः प्राप्त हो गयी। इससे प्रेरित होकर उन्होंने अपना समग्र जीवन धर्म-प्रचार में लगा दिया हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। तथ्यों से भी यही अनुमान होता है कि उनको भगवान् का समर्थन प्राप्त था। लगभग ५० वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपना धर्म चलाया और इसके बाद भी वे ७० वर्ष तक जीवित रहे। आरम्भ में उनका जगह-जगह विरोध हुआ परन्तु अन्त में उन्हें विजय ही प्राप्त हुई। सभी ने उनके मत को एक स्वर से स्वीकार किया। उनकी मृत्यु तभी हुई जब उनके धर्म का वृक्ष खड़ा होकर लहलहाने लगा और उसमें फल-फूल विपुलता से प्रकट होने लगे। उनको शिष्य भी सुयोग्य ही प्राप्त हुए।

सम्भवतः, इसी घटना से प्रभावित होकर उन्होंने 'कीर्तन घोषा' नामक अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की जिसमें भागवत तथा अन्य पुराणों से चुनी हुई कथाओं पर ३० के लगभग कविताएँ हैं जिनमें सवा दो हजार से कुछ अधिक पद हैं। ये कविताएँ धार्मिक समारोहों पर गायी जाने के लिए लिखी गयी हैं। प्रत्येक कविता या कीर्तन में एक घोषा या टेक होती है। ये कीर्तन समस्त असम में बहुत लोकप्रिय हुए और घर-घर में गाये जाने लगे। कुछ लोग 'कीर्तन घोषा' को समय-समय पर रचित कीर्तनों का संग्रह मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। ग्रन्थ की रचना से ही स्पष्ट है कि यह संग्रह ग्रन्थ नहीं अपितु सुनियोजित ग्रन्थ है। बाद में शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने भी अपने लिखे कीर्तन इसमें मिला दिये और उसे 'संयुक्त कीर्तन घोषा' कहा जाने लगा।

ये कीर्तन उनके धर्म को लोकप्रिय बनाने का साधन बने। गेय कथाओं के माध्यम से राम और कृष्ण का नाम प्रत्येक की जिह्वा पर चढ़ गया। शंकरदेव के गुरु महेन्द्र कन्दली तथा पुरोहित राम राम भी उनके शिष्य बन गये।

मित्रों और सम्बन्धियों के आग्रह पर शंकरदेव ने कालिंद्री नामक कायस्थ कन्या से दूसरा विवाह कर लिया था। वे अपने पैतृक घर में ही रहते थे, परन्तु कछारी नामक आदिवासियों के उपद्रवों के कारण वे अपना निवास-स्थान बदलने को बाध्य हुए। पहले वे अपने जिले के गंगमौ नामक स्थान पर गये, फिर धूयाहाट आकर रहने लगे। धूयाहाट नामक इस स्थान पर ही उन्हें अपने सर्वोत्तम शिष्य, माधवदेव से प्रथम बार परिचय हुआ। इस भेंट का भी एक मनोरंजक कथा है।

माधव भी कायस्थ संतान थे और नौगाँव जिले के ही बांदुका ग्राम में, सन् १४८९ में उनका जन्म हुआ था। वे उस युग की पारम्परिक विद्या में अत्यन्त पारंगत और शाक्तधर्म के अनुयायी थे। एक बार उनकी माता बीमार पड़ीं। उन्होंने व्रत लिया कि यदि माँ रोगमुक्त हो गयीं तो वे देवी को एक बकरे की बलि देंगे। संयोग से माँ स्वस्थ हो गयीं और उन्होंने अपने भाई को बकरा लाने के लिए भेजा। उनका भाई कुछ समय पूर्व शंकरदेव के एकशरण धर्म को अंगीकार कर चुका था, इसलिए वह इस काम से टालमटोल करने लगा। एक दिन उसने माधव से साफ कह दिया कि वह यह काम नहीं करेगा। नौबत यहां तक आ पहुँची कि उसे अपने भाई से कहना पड़ा—आप अपने को चाहे जितना बड़ा क्यों न मानते हों, शंकरदेव के सामने आप कुछ भी नहीं है।

माधव को यह बात लग गयी। उसने शंकरदेव से मिलने और बात करने का निश्चय प्रकट किया। भाई उनको शंकरदेव के यहाँ ले गया। भेंट आरम्भ होते ही शक्तिपूजा तथा एक में ही निष्ठा रखने के सिद्धान्तों पर बहस चल पड़ी। माधव ने शास्त्रों के उद्धरण देकर सांसारिक आसक्ति को सिद्ध करना शुरू किया और शंकरदेव ने त्याग और अनासक्ति को। अन्त में शंकरदेव की विजय हुई और माधव ने उनको अपना गुरु स्वीकार कर लिया।

इस समय यद्यपि माधव की सगाई पक्की हो चुकी थी परन्तु अनासक्ति में पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसने विवाह करना अस्वीकार कर दिया। इस विषय में उसने अपने गुरु की भी एक न सुनी और जीवन-पर्यन्त विवाह से दूर रहकर अपूर्व दृढता का परिचय दिया।

ब्राह्मणों का विरोध

जैसे-जैसे शंकरदेव का धर्म बढ़ने लगा, वैसे-वैसे उनका विरोध भी बढ़ना आरम्भ हुआ। उनके कारण पुराने पुरोहित-वाद को चोट पहुँची और सब पुरोहित एक होकर उनके विरुद्ध खड़े हो गये। उन्होंने अहोम राजा चुहुंगमुँग से शिकायत की कि शंकरदेव असमिया जनता के धर्म को नष्ट कर रहे हैं। अहोम इस प्रदेश के लिए नये ही थे और हिन्दू परम्परा से परिचित नहीं थे। इसलिए अभियोग में शंकरदेव के विरुद्ध कुछ प्रमाणित नहीं हो सका और वे साफ बच निकले। सामयिक रूप से ब्राह्मण पुरोहितों की हार हुई परन्तु वे भला चुप कहां बैठने वाले थे। उन्होंने अन्य उपायों से शंकरदेव तथा उनके अनुयायियों को सताना शुरू किया। उनके विरोध का एक मुख्य कारण शंकरदेव का ब्राह्मण न होकर कायस्थ होना भी था।

इधर शंकरदेव को एक नयी ही विपत्ति का सामना करना पड़ा। अहोम राजा को हाथियों को पकड़ने का बड़ा शौक था। उसने एक बार बड़े भारी पैमाने पर इसका आयोजन किया। हाथियों को पकड़ने के लिए लकड़ी और रस्सों की बाड़ें बनायी गयीं। स्थान-स्थान पर राज्य के प्रमुख व्यक्तियों को तैनात किया गया। शंकरदेव का स्थान भी राज्य के सम्पत्तिशाली कुलीनों में होने के कारण उन्हें भी आयोजन में सम्मिलित होकर एक स्थान पर खड़ा होना पड़ा।

राजा का आदेश यह था कि जिस दिशा से हाथी भागेंगे, उधर नियुक्त व्यक्तियों के सिर काट लिये जायेंगे। दुर्भाग्य से शंकरदेव की दिशा से ही हाथी भागने लगे और उनके कोई भी

सम्बन्धी हाथियों को रोकने में समर्थ नहीं हुए। बस, फिर क्या था, उन सब को गिरफ्तार करने की आज्ञा जारी हो गयी।

गिरफ्तारी से बचने के लिए शंकरदेव अपने कुछ भूयाँ सम्बन्धियों के साथ राज्य से भाग निकले। माधवदेव और शंकरदेव के दामाद, हरी पीछे रह गये। इसलिए इन्हीं दोनों को गिरफ्तार कर लिया गया। दोनों जेल में डाल दिये गये। संन्यासी होने के कारण माधवदेव को तो छोड़ दिया गया परन्तु हरी को मृत्युदण्ड दिया गया। हरी के अन्त समय में माधवदेव ने एक गीत की रचना की जिसका आशय निम्नलिखित है :

> ओ भाई, सावधान रहो, जीवन बीत रहा है। गोविंद की कृपा से तुम्हें शांति प्राप्त होगी। यह जीवन और यौवन निरर्थक है, यह संसार मिथ्या है। दुःखों को ठुकराते चलो। हरि चरणों में मन लगाओ। इच्छाओं का नाश करो, भ्रम के जाल को तोड़ो। भगवान् के चरणों में ही शांति है।

इस क्रूरतापूर्ण घटना का शंकरदेव के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने सदा के लिए यह राज्य छोड़ देने का निश्चय किया। साल भर के बाद माधव भी जेल मे मुक्त हो गये और उन्होंने शंकरदेव का साथ दिया। अपने बहुत से अनुयायियों के साथ वे अहोम राज्य छोड़कर, सन् १५३२ में, कोच राज्य के कामरूप जिले में स्थित बारपेटा नामक स्थान में आ गये। यहां उनकी स्थिति सुरक्षित थी और उन्होंने अपने सम्प्रदाय के लिए इमारतें, मन्दिर आदि बनवाये। यहीं उनके जीवन का शेष सम्पूर्ण काल बीता। यहीं उन्होंने अपने सर्वोत्तम ग्रन्थों की रचना की।

यहाँ उनको दामोदरदेव और हरिदेव नामक दो अन्य उत्तम शिष्यों की प्राप्ति भी हुई। दोनों ही ब्राह्मण थे और दामोदर तो शंकरदेव के ही जिले के निवासी थे। शंकरदेव दामोदर को बचपन से ही जानते थे और वास्तविकता यह है कि दामोदर नाम भी उन्हीं का दिया हुआ था। सम्भव है, इस बालक में उन्होंने भावी महानता के लक्षण देखे हों। जो हो, बारपेटा के पातबौसी नामक स्थान में स्थायी रूप से बस जाने के बाद शंकरदेव ने दामोदर को अपने मत में दीक्षित कर लिया। तब तक दामोदर का विवाह हो चुका था और उनके एक सन्तान भी थी। परन्तु दीक्षा लेने के कुछ समय पश्चात् ही उनकी पत्नी और शिशु का देहान्त हो गया। स्वभावतः, उन्हें गहरा मानसिक आघात पहुँचा। उनकी वृत्ति परिवर्तित करने के उद्देश्य से शंकरदेव ने उनको एकशरण धर्म का प्रचार करने का आदेश दिया। दामोदर ने इसे शिरोधार्य किया और फिर आजीवन वे इसे ही करते रहे।

पातबौसी आने के एक वर्ष पश्चात् शंकरदेव ने दूसरी बार सम्पूर्ण भारत की यात्रा का कार्यक्रम बनाया। इस बार उनके साथ बहुत से अनुयायी भी थे। इस यात्रा में वे चैतन्य महाप्रभु से मिले तथा कबीर की समाधि पर भी गये। कहते हैं, जब शंकरदेव पुरी में थे, तभी चैतन्यदेव वैकुण्ठवासी हुए।

इसके बाद वे उत्तर भारत के तीर्थों का भ्रमण करते रहे परन्तु इस बार वे वृन्दावन नहीं जा सके। इसका कारण यह था कि उनकी पत्नी ने गुप्तरूप से माधवदेव से कहा था कि वे शंकरदेव को वृन्दावन न जाने दें। शायद उन्हें भय था कि वृन्दावन जाकर वे कहीं वापस ही न लौटें।

यात्रा से लौटकर उन्होंने दुगने उत्साह से अपने धर्म का

कार्य आरम्भ कर दिया। कूच राजा के भाई तथा सेनापति, शीलराय दीवान ने उनकी भतीजी भुवनेश्वरी से विवाह कर लिया और उनके शिष्य हो गये।

शंकरदेव के धर्म का प्रचार दिनोदिन बढ़ता देखकर ब्राह्मण बहुत भयभीत थे। उन्होंने एक बार फिर राजा से उनके विरुद्ध शिकायतें करने की ठानी। अभियोग वही पुराना था कि शंकरदेव धर्म का नाश कर रहे हैं। ब्राह्मणों ने अपने पक्ष के समर्थन में काशी आदि स्थानों से अनेक पण्डित बुलवाये। जिस दिन राजसभा में मामला पेश होना था, शंकरदेव भी पूरी तैयारी के साथ वहां पहुँचे। प्रवेश करते ही उन्होंने श्रीकृष्ण की स्तुति में एक स्वरचित संस्कृत कविता सुनायी और फिर राजा की स्तुति में रचित एक अन्य लम्बी कविता का पाठ किया। राजा उनकी विद्वता तथा व्यक्तित्व के सामने नत हो गये और खड़े होकर उनका सम्मान किया। बैठने के लिए उनको ऊँचा आसन दिया गया।

तब शकरदेव ने राजा से प्रार्थना की कि उनकी कविता के चतुर्विध अर्थ ब्राह्मण पण्डितों से पूछे जायँ। पण्डित कोई भी अर्थ नहीं बता सके और मूक खड़े रहे। इस पर शंकरदेव ने स्वयं उनका अर्थ बताना आरम्भ किया और भागवत धर्म की उत्तम व्याख्या की। राजा तथा अन्य सभासद् अत्यन्त प्रभावित हुए और शंकरदेव विजयी घोषित किये गये। राजा ने उनको अनेक उपहार देकर विदा किया। यह सभा कई दिन तक चलती रही।

इसके पश्चात् राजा के साथ शंकरदेव की घनिष्ठता बढ़ गयी और वे महलों में आने-जाने लगे। कुछ ही समय बाद राजा ने उनका शिष्य बनने की इच्छा भी प्रकट की परन्तु शंकर-

देव ने यह कहकर उन्हें अपना शिष्य बनाने से इनकार कर दिया कि उनसे एकशरण धर्म के कठिन नियमों का पालन नहीं हो सकेगा। दूसरी बात यह थी कि राजा होने के कारण उसे अन्य धर्मों का आदर करना भी आवश्यक होता, जबकि एकशरणीय के लिए किसी भी दूसरे धर्म या ईश्वर पर निष्ठा प्रकट करना निषिद्ध है। एकशरण धर्म में छोटे-मोटे देवताओं की पूजा भी वर्जित है।

सिद्धान्त और साहित्य

जैसा कि प्रकट है, शंकरदेव का धर्म भागवत और गीता पर आधारित था। लेकिन उत्तर भारत में प्रचलित अन्य भक्ति धर्मों से यह अनेक बातों में भिन्न था। वहाँ कृष्ण के साथ राधा और राम के साथ सीता की पूजा आवश्यक थी। परन्तु इस कारण जो शृंगारिकता उत्पन्न होती थी, वह शंकरदेव को पसन्द नहीं थी। इसलिए उन्होंने पूजा में से नारी तत्त्व को एकदम निकाल दिया। सम्भवतः, इसका कारण यह था कि असम ने आज तक स्त्री की ही पूजा की थी।

शंकरदेव के आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण है जो एकमेवाद्वितीय और सर्वथा अलौकिक हैं। ध्यान के द्वारा वैकुण्ठ में उनकी कल्पना की जाती है जहाँ उनकी अर्धांगी कमला या लक्ष्मी भी उनकी पूजा में ही निरत हैं। राम भी कृष्ण से अभिन्न है क्योंकि दोनों ब्रह्म के ही प्रतीक हैं। इस पूजा में धूप, दीप, पुष्प आदि के साथ प्रार्थना और स्तुति भी सम्मिलित हैं।

इस धर्म की एक विशेषता यह भी है कि इसमें ब्राह्मणों तथा शूद्रों को समान स्थान प्राप्त हैं। शंकरदेव ने इस सम्बन्ध

में स्पष्ट घोषणा की—हरिभक्त चाण्डाल अन्य सभी व्यक्तियों से श्रेष्ठ है। शंकरदेव वर्णाश्रम का विरोध तो नहीं करते परन्तु उसे सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित मानते हैं। धर्म के क्षेत्र में वे उसका प्रवेश स्वीकार नहीं करते। धार्मिक समारोहों पर सबको समानता प्राप्त है। धर्म-ग्रन्थों का वाचन और व्याख्या इस कार्य में योग्य व्यक्ति ही कर सकता है, फिर चाहे वह शूद्र हो या ब्राह्मण। इसी तरह ब्राह्मणों को आगे बैठाया अवश्य जाता है परन्तु प्रसाद वितरण करने वाला शूद्र भी हो सकता है। इस कारण उनका धर्म आग की तेजी से जनता में फैला। उनके अनुयायियों में विद्वान् ब्राह्मण तो थे ही, शूद्र, आदिवासी और मुसलमान भी विपुल संख्या में थे।

उनके धर्म-प्रसार का दूसरा कारण क्रूरता के स्थान पर कोमलता की स्थापना करना था। कहते हैं, काला पहाड़ के द्वारा कामाख्या मन्दिर के ध्वंस के पश्चात् जब कोच राजा नारायण ने उसका पुनर्निर्माण कराकर फिर से उसका उद्घाटन किया, तब १५० व्यक्तियों का बलिदान किया गया। पशुओं के बलिदान का तो कोई अन्त ही नहीं था। नर-बलि के लिए अपने को समर्पित करने वाले लोगों की एक स्वतन्त्र जाति ही बन गई थी, जिसे भोगी कहते थे। इन सब कुकृत्यों के स्थान पर गान-ध्यानमय मधुर पूजा किसे प्रिय न होती !

परन्तु धार्मिक उत्सवों में स्त्रियों को सम्मिलित न करने में शंकरदेव की रूढिवादिता ही प्रकट होती है। वे मन्दिरों के आंगन मे खड़ी होकर ही भगवान् का भजन पूजन कर सकती हैं। यही नहीं, जब पुरुषों का समारोह चल रहा हो, तब भी वे मन्दिर में नहीं आ सकतीं।

एकशरण धर्म के मन्दिरों को कीर्तन-घर या नाम-घर कहते हैं। इनमें किसी देवता की, श्रीकृष्ण की भी, कोई मूर्ति नहीं होती। प्रात: और सायं गीता, भागवत आदि की कथाएँ तथा शंकर माधव रचित कीर्तनों का गायन होता है। गायन के साथ विविध वाद्य भी बजाये जाते हैं। इसको नामकीर्तन या नामप्रसंग कहा जाता है।

नाम-घरों में किसी भी मूर्ति का न होना पुरोहितवाद के आधार को ही नष्ट कर देता है। कहते हैं, आरम्भ में शंकरदेव जगन्नाथ की मूर्ति रखते थे परन्तु बाद में उन्होंने इसे बन्द कर दिया। उनका कहना था कि पत्थर और पानी को सम्बन्ध की शक्ति के कारण मनुष्यों का हृदय शुद्ध करने की क्षमता भले ही प्राप्त हो जाय, भक्त की क्षमता उससे कई गुना श्रेष्ठ है। भक्त अपने दर्शन से ही लोगों को पवित्र करता है।

भारत के सभी पूजनपरक धर्मों में किसी न किसी मूर्ति का, और प्राय: अगणित मूर्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भक्तिवादी धर्मों में तो इनका महत्त्व और भी कई गुना बढ़ गया। इस दृष्टि से शंकरदेव के धर्म में मूर्ति से पूर्ण मुक्ति एक बड़े चमत्कार की बात है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ध्यान के केन्द्र रूप में कोई कल्पना नहीं स्वीकार की गयी। वास्तव में कल्पना के बिना ध्यान सम्भव ही नहीं है। हुआ यह कि मूर्ति को बाहर से हटा कर हृदय में रख दिया गया। शंकरदेव ने कहा है कि हृदय में राम की मूर्ति का ध्यान तथा मुँह से उनका पावन नाम लेते रहना चाहिए। इससे मूर्ति-पूजा के गुण तो बने रहे, शायद कुछ बढ़ भी गये, परन्तु उसके दोषों का नाश हो गया। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह युक्ति बड़ी सफल रही।

भक्ति के नवधा प्रकारों में से शंकरदेव ने दास्य भावना को ही मुख्य रूप से स्वीकार किया। उपासक को ईश्वर की कल्पना स्वामी के रूप में ही करनी चाहिए। शंकरदेव का मत था कि मधुर उपासना व्यक्तिगत दृष्टि से चाहे जितनी सफल हो, सामाजिक रूप से उसकी हानि असंदिग्ध है। उनकी दृष्टि में उपासक को भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण और नम्रता का भाव स्वीकार करना चाहिए। उनसे प्रार्थना ही करना चाहिए, अधिकार से कुछ माँगना नहीं चाहिए। शंकरदेव के निम्नलिखित गीतों में यह भाव भली-भाँति व्यक्त है—

हे नाथ, आप ही मेरे हृदय की आंतरिक गतिविधि का संचालन करते हैं। मैं आप ही में स्थित हूँ। अपने चरणों में मुझे स्थान देकर मेरी रक्षा करो। मुझ पर अपनी दया बरसाओ।

हे नाथ, आप ही मेरी आत्मा की आंतरिक गतिविधि का नियंत्रण करते हैं। मैं आपका ही सेवक हूँ। यह जानकर मुझ पर कृपा करो। दाँतों में तिनका दबा कर मैं आपके चरणों में नतमस्तक होता हूँ। मुझे अपनी सेवा करते रहने का उपाय बताओ।

× × ×

मेरे समान पापी तीनों लोकों में अन्य नहीं है। आपके समान पापियों का त्राता भी अन्य कोई नहीं है। यह जानकर मेरे लिए जो उचित समझो, करो। आपके चरणों में मेरी यही प्रार्थना है।

माया और मोह में ग्रस्त होने के कारण मैं नित्य सहस्रों पाप करता रहता हूँ। मुझे अपना दास समझो। हे संसार के स्वामी, मुझे क्षमा करो।

मैं जानता हूँ कि पुण्य क्या है, फिर भी मैं उसका आचरण नहीं कर पाता। मुझसे वही कराओ, जो तुम मेरे लिए उचित समझते हो। मुझसे पाप मत होने दो।

मैं नहीं जानता कि किस प्रकार आपकी पूजा करूँ। प्रार्थना या स्तुति करना भी मुझसे नहीं आता। इसलिए मैं सेवक की तरह आपके चरणों पर गिरता हूँ। मेरी नौका का संचालन करो।

शंकरदेव की दास्य भावना बहुत स्पष्ट है। उसकी एक विशेषता यह भी है कि उसमें रहस्य की भावना का नितांत अभाव है। अन्य भारतीय धर्मों की तुलना में यह भी एक चमत्कार की बात है।

ईश्वर का संरक्षक पक्ष ही शंकरदेव को सर्वाधिक प्रिय है। वे मुक्ति की कामना भी नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार आदर्श भक्त को भगवान् में मिलने की इच्छा नहीं करना चाहिए। मिलना समानों में ही सम्भव है। उनके लिए तो भक्ति की सुगन्ध ही पर्याप्त है। वे तो केवल माया के पाशों से ही अपनी मुक्ति चाहते हैं। सांसारिक बन्धनों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने की इच्छा उनके सभी गीतों में व्यक्त होती है। इसका एक उत्तम उदाहरण उस गीत में है जो उन्होंने अपने प्रथम पुत्र के जन्म के समय लिखा था—

हे नाथ, मैं आपके चरणों में गिरता हूँ। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरी आत्मा की रक्षा करें। इस संसाररूपी सर्प के विष से ग्रस्त मैं प्रतिक्षण मृत्यु से भयभीत हो रहा हूँ।

इस संसार की सभी वस्तुएँ अस्थिर हैं। मनुष्य, धन, यौवन, स्त्री, पुत्र कुछ भी स्थिर नहीं है। स्थायी और अमर मान कर मैं किस वस्तु की कामना करूँ?

कमल पत्र पर पड़ी हुई जल की बूंद के समान मेरा हृदय चंचल है। यह क्षण-मात्र के लिए भी शांत नहीं होता। इन्द्रिय जगत् के भोग में इसे कोई भय नहीं सताता।

शंकराचार्य, रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि की भाँति शंकरदेव ने ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई वेदान्ती मत देकर अपनी शिक्षाओं का प्रतिपादन नहीं किया। उनकी रचनाओं में कहीं भी ईश्वर, जीव, संसार आदि के विषय में कोई लम्बा-चौड़ा और गहन दर्शन नहीं प्राप्त होता। उन्होंने भागवत और गीता के आराध्य को ही अपना प्रमुख देवता मान कर संतोष कर लिया। उनकी दृष्टि में ईश्वर रूप-गुणहीन परन्तु सर्वोच्च बुद्धिशाली व्यापक सत्ता है। वही एकमात्र सत्य है, शेष सब वस्तुएँ माया और मिथ्या हैं। जो कुछ भी व्यक्त और दृश्य है, वह सब ईश्वर की ही उसकी अपनी इच्छानुसार, माया की सहायता से अभिव्यक्त लीला है। उन्माद की चरम अवस्था में भक्त को रूप-गुणहीन भगवान् के दर्शन होते हैं। यही सत्य और अमर वस्तु है। भगवान् ही संसार के आदि, मध्य और अन्त हैं। जिस तरह घड़ा मूलतः मिट्टी ही होता है और टूटने के बाद मिट्टी में ही मिल जाता है, उसी प्रकार दृश्य और अदृश्य संसार भगवान् से उत्पन्न होकर उन्हीं में मिल जाता है। भगवान् सदा विकारहीन हैं; विकार अन्य सब वस्तुओं में ही होता है। उनके अतिरिक्त अन्य कोई भी देवता ज्ञान या मुक्ति नहीं दे सकता। इस सम्बन्ध में उनका यह कथन अत्यन्त मनोरंजक है—

> श्री भगवान् के लोक में ब्रह्मा, इन्द्र जैसे साधारण देवों की कोई गिनती नहीं है। उन पर तो कोड़े बरसने चाहिए। कहते हैं कि ब्रह्मा ने संसार की रचना की, विष्णु उसे चलाता है और रुद्र उसे नष्ट करता है। यह विश्वास उन लोगों का है जिनको पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ। परन्तु जो सच्चे ज्ञानी हैं, वे एकमेव हरि को समझने में भूल नहीं करते।

नाम जप पर शंकरदेव की अटूट श्रद्धा है। 'कीर्तन घोषा' में एक स्थान पर वे कहते हैं—

सतयुग में ध्यान के द्वारा साधना की जाती है, त्रेता में कर्मकांड सबसे महत्वपूर्ण है, द्वापर में पूजा के विभिन्न प्रकार फलदायक होते हैं, परन्तु कलियुग में भक्तिपूर्वक हरि के नाम का जप ही सर्वोत्तम धर्म है। जिस प्रकार वस्तु की इच्छा न होने पर भी अग्नि उसका नाश करती है, उसी प्रकार नामजप मनुष्य के सैकड़ों पापों को नष्ट करने में समर्थ है।

हवन, यज्ञ आदि वैदिक कर्मकांड के प्रकारों को शंकरदेव के धर्म में कोई स्थान नहीं है। वे समस्त कमकांड त्याग कर पूर्णतः भक्ति में ही लय हो जाने का उपदेश देते हैं। परन्तु जो भक्त सांसारिक बन्धनों से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ है, उसके लिए कर्मकांड का परित्याग आवश्यक नहीं है। परन्तु यह मध्यवर्ती अवस्था ही है, अन्त में तो सब कुछ छोड़-छाड़कर श्रीकृष्ण के चरणों में ही सर्वस्व समर्पित कर देना है। मुक्ति का विश्वास दिलाने पर भी जो भक्त उसकी कामना नहीं करता और अपनी भक्ति की अवस्था में ही आनन्द मानता है, वही आदर्श भक्त है। ऐसी भक्ति की प्रशंसा में शंकरदेव का कथन है—

आप आत्मा के चिकित्सक हैं, आप सरलतम चिकित्सा को स्वीकार नहीं करते। आप सहस्रों कार्य करते हैं परन्तु ईश्वर को प्राप्त नहीं करते और बारम्बार इस संसार में लौट आते हैं।

आप तप और ध्यान में, साधना और तीर्थयात्रा में, गया, काशी आदि के निवास में अनेक वर्ष व्यतीत करते हैं। आप योग की समस्त विधियां जानते हैं परन्तु आपकी बुद्धि भ्रमपूर्ण है। आप यह जानिये कि परम भक्ति के अतिरिक्त अन्य तरणोपाय नहीं है।

राम के नाम में ही समस्त गुण और पुण्य छिपे हैं। यही समस्त शास्त्रों का अंतिम संदेश है। भक्ति भावना से ईश्वर का नाम लेना ही कलियुग का सर्वोत्तम धर्म है।

हम यह जानते हैं परन्तु समझते नहीं। यह शरीर नश्वर है, तुम्हें फिर कभी मानव रूप की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए कर्तृत्व का घमण्ड छोड़कर हरि के चरणों में निछावर हो जाओ।

सच्चे भक्त के आचरण के सम्बन्ध में भी शंकरदेव ने नियम बनाये हैं। उसमें सहानुभूति, सेवा, क्षमा, उदारता, कोमलता तथा वासनाओं पर नियंत्रण के गुण होने चाहिए। उसे भक्तियोग की सत्यता में अचल निष्ठा तथा जनता को समझा सकने योग्य बुद्धि होनी चाहिए। ऐसे भक्तों का समाज मूर्ति-पूजकों तथा तीर्थ-यात्रियों के समाज से श्रेष्ठ माना गया है। जबकि मूर्ति के पास देर तक बैठने और गंगा आदि नदियों में नहाने से पवित्रता प्राप्त होती है, भक्त के दर्शनमात्र से मनुष्य शुद्ध और निर्मल हो जाता है। नाम श्रवण और जप से पहले श्रीकृष्ण के लिए श्रद्धा, फिर भक्ति उत्पन्न होती है और धीरे-धीरे यह भक्ति गहरी होती जाती है। भक्त के लिए अन्य किसी देवता का स्मरण, पूजा या जप पूर्णतः वर्जित है। शंकरदेव कहते हैं—

अन्य देव देवियों के समक्ष सिर मत झुकाओ, न उनको अर्पित प्रसाद ही ग्रहण करो। मूर्तियों पर दृष्टि मत डालो, न किसी के मन्दिर में प्रवेश करो। इससे तुम्हारी उपासना अपवित्र और खण्डित हो जायगी। केवल श्रीकृष्ण का स्मरण करो और उनका ही नाम लो। कृष्ण के ही सेवक बनो और उनका प्रसाद ग्रहण करो। अपने हाथों से उन्हीं का कार्य करो। जो व्यक्ति एकनिष्ठा से श्रीकृष्ण का ध्यान करता है, वह ब्रह्म की अवस्था प्राप्त करता है।

अपनी शिक्षाओं को सुदृढ अधिष्ठान प्रदान करने के लिए शंकरदेव ने विपुल धार्मिक साहित्य की रचना की। उन्होंने कविता, नाटक आदि सभी कुछ लिखे। काव्य के क्षेत्र में उनकी प्रमुख रचना भागवत पुराण है जिसके भाग १, २, ७, १०, ११ और १२ प्रकाशित हुए हैं। रामायण का ७वाँ काण्ड भी उन्होंने लिखा। इसके अतिरिक्त 'रुक्मिणी हरण काव्य', 'निविनव्र सिद्ध', 'वैष्णवामृत' और 'कीर्तन-घोषा' उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

'कीर्तन घोषा' के सम्बन्ध में पहले ही संकेत किया जा चुका है। इसमें भाषा का सौष्ठव और एकशरण धर्म के विभिन्न पक्ष देखने योग्य हैं। जिस तरह बाइबिल का अंग्रेजी अनुवाद धर्म ही नहीं, साहित्य के क्षेत्र में भी बहुत लोकप्रिय हुआ, उसी प्रकार भागवत, विष्णु, ब्रह्म आदि पुराणों का यह असमीकरण असम प्रदेश के जीवन और साहित्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

असम के साहित्यिक जीवन का वास्तविक आरम्भ शंकर-देव से ही माना जाता है। उन्होंने न केवल स्वयं रचनाएं कीं, दूसरों को भी लिखने के लिए प्रोत्साहित किया और उनसे बहुत सा काम कराया। इसका एक रोचक उदाहरण तत्कालीन विद्वान् राम सरस्वती का है जिन्होंने राजा नरनारायण और शंकरदेव के सुझाव पर महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ का अनुवाद किया और कराया। नरनारायण उनके पास प्रचुर संख्या में पाण्डुलिपियाँ भिजवाते रहते थे। उन्होंने महाभारत की कथाएं आधार बनाकर अनेक वध काव्यों की भी रचना की जिनमें असम के जीवन का भी रोचक चित्रण किया गया है। 'कुलाचल वध' में उन्होंने शंकरदेव का भी जिक्र किया

है और बताया है कि किस प्रकार कट्टरतावादी ब्राह्मणों ने अब्राह्मण सन्त शंकरदेव का खुलकर सामना करने का साहस तो नहीं किया, पर वे उनके विरुद्ध राजा के कान भरते रहे।

शंकरदेव के नाटकों में 'रुक्मिणीहरण', 'कालियदमन', 'रसक्रीडा', 'पारिजातहरण', 'पत्रोप्रसाद', 'रामविजय' आदि प्रमुख हैं। ये अब श्री बिरंचिकुमार बरुआ के सम्पादन में प्रकाशित हो गये हैं। ये सब एकांकी नाटक हैं और पुराणों पर आधारित हैं। ये असमिया गद्य में हैं जिनमें ब्रजभाषा जैसी मधुरता और लालित्य है। बीच बीच में गीत भी दिये गये हैं। भारत में सर्वत्र नाटकों में पद्य का ही प्रयोग करने की प्रथा थी जिसे शंकरदेव ने ही पहले पहल तोड़ा प्रतीत होता है। एकांकी होने के कारण वे अंकीया नाटक कहलाये। बाद में अंक शब्द का प्रयोग नाटकों के लिए ही किया जाने लगा। इन नाटकों की एक अन्य विशेषता यह है कि उनमें सूत्रधार समय समय पर प्रकट होकर कथानक का संचालन करता है और उसके विकास को स्पष्ट करता जाता है। ऐसे प्रयोग कुछ नये पश्चिमी नाटकों में भी किये जा रहे हैं। इन नाटकों में संगीत प्रमुख है। इनका उद्देश्य धार्मिक होने के कारण चरित्र चित्रण को प्रधानता नहीं प्राप्त होती अपितु विभिन्न मनोदशाओं अथवा रसों को ही प्रमुखता प्राप्त होती है।

मूलतः धर्म प्रचार के लिए लिखित और अभिनीत होने के कारण शंकरदेव स्वयं तथा उनके प्रमुख शिष्य भी इनमें भाग लिया करते थे। उस समय जब मुद्रण कला का आविष्कार नहीं हुआ था, नाटक ही सबसे चमत्कारपूर्ण माने जाते थे और प्रचार का सर्वोत्तम साधन थे। आज यद्यपि इनका प्रचार-

तत्त्व समाप्त हो गया है, परन्तु कलातत्त्व शेष है जो सभी दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इन नाटकों की भाषा में मैथिली का भी सम्मिश्रण है। शंकरदेव की कविताएं शुद्ध असमिया में ही होने के कारण यह अनुमान करना कठिन है कि उन्होंने नाटकों में मैथिली का मिश्रण क्यों किया। यह एक मनोरंजक पहेली है। शायद इसका कारण उन पर विद्यापति का प्रभाव हो जिनकी रचनाओं का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। अपने अयोध्या निवास में उन्होंने विद्यापति के नाटक बहुत देखे भी होंगे।

अपनी मथुरा और वृन्दावन की यात्राओं में उन्होंने देखा कि कृष्ण ही नहीं, राम की लीला के भी पद रचे और गाये जाते हैं। इसलिए उन्होंने भी ब्रजबुलि से मिश्रित एक प्रकार की नयी भाषा में पदों की रचना की जो बरगीत कहलाते हैं। इसी तरह बनारस में उन्होंने कबीर का चौतीसा सुना जो उन्हें बहुत पसन्द आया। उनके अनुकरण पर शकरदेव ने असमिया में 'छतिया' की रचना की। इनमें वर्णमाला के अक्षरों से आरम्भ करके क्रमशः चरणों की रचना की जाती है। चौसर की 'ए बी सी' भी इसी तरह की रचना है जिसमें लेटिन अक्षरों से प्रत्येक नयी पंक्ति आरम्भ होती है।

बरगीत और छतिया अपने काव्य-सौन्दर्य, विचार-गांभीर्य और भाव-कोमलता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनके पश्चात् माधवदेव तथा अन्य कवियों ने भी बरगीतों की रचना की। बरगीतों में श्रीकृष्ण की बाललीला का चित्रण है। असम के वैष्णव और विशेषतः कृष्णपरक साहित्य की एक प्रमुख विशेषता माता यशोदा का वात्सल्य है जो इनमें

बड़े अनूठे ढंग से व्यक्त होता है। शंकरदेव की तुलना में माधवदेव के बरगीत अधिक सुन्दर माने जाते हैं। उनको पढ़ कर हिन्दी के महाकवि सूरदास का स्मरण हो आता है। भाषा माधुर्य, स्वर-तन्मयता और माधवदेव के सुरीले कण्ठ ने इन गीतों को उनके जीवन-काल में ही अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया था। आज भी उनकी मधुरता की धाक जमी हुई है।

आरम्भिक असमिया साहित्य में वैष्णवों का प्रमुख स्थान होने के कारण असम में सरल और अलंकारिकता आदि की दुरूहताओं से मुक्त साहित्य की रचना करने की प्रथा चल पड़ी। वैष्णवों को अपने धर्म का प्रचार करना था इस लिए उन्होंने ऐसी भाषा और मुहावरों आदि का प्रयोग किया जो जनता में प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने किसी गहन दर्शन की बातें नहीं कीं, उनका कथ्य सदा ही देवी-देवताओं की कथाएँ ही होता था। यह सत्य हैं कि उसमें अधिकांश अनुवाद, रूपान्तर और संकलन ही है, परन्तु उसमें भी रचनाकार की व्यक्तिगत प्रतिभा बड़ी स्वतन्त्रता से प्रस्फुटित हुई है।

अपने मत का दार्शनिक दृष्टि से प्रतिपादन करने के लिए शंकरदेव ने केवल एक ग्रन्थ की रचना की जो संस्कृत में है। इसका नाम 'भक्ति रत्नाकर' है। इसी परम्परा में माधवदेव ने 'नामघोषा' नामक ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने विष्णुपुरी संन्यासी रचित 'भक्ति रत्नावली' का अनुवाद भी किया। भट्ट देव नामक उनके शिष्य ने सम्पूर्ण भागवत और गीता का असमिया गद्य में अनुवाद किया। भट्टदेव ने 'भक्ति विवेक' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ की भी रचना की।

इस प्रकार शंकरदेव और उनकी परम्परा के कवि-लेखकों

ने एक शताब्दी के भीतर ही असम को नए वैष्णव साहित्य से भर दिया और संस्कृत के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का कविता, नाटक आदि सभी में अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया। इससे असम का नया सांस्कृतक जीवन आरम्भ हुआ जो शताब्दियों तक चलता रहा और अनेक अंशों में आज भी चल रहा हैं। इतने व्यापक और सफल नवोदय का श्रेय शंकरदेव को है और उनके उस आरम्भिक शिक्षण को है जो असम ही नहीं, भारत के सभी प्रदेशों में लगभग ५० वर्ष की आयु तक चलता रहा। उस समय इनकी जड़ें बहुत मजबूत ही पड़ी होंगी जो कालान्तर में बड़ी शक्ति से पुष्पित पल्लवित हुई।

माधवदेव और दामोदर

सन् १५६९ में ११९ वर्ष की अवस्था में शंकरदेव का देहांत हुआ। उनका देहान्त उन्हीं दिनों हुआ जब कोच राजा नरनारायण ने उनका शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की थी। यद्यपि शंकरदेव ने आरम्भ में उन्हें शिष्य बनाने से इनकार कर दिया था, परन्तु राजा ने उनपर बड़ा दबाव डाला और वचन दिया कि वह एकशरण धर्म के सभी नियम पालन करने का प्रयत्न करेगा। शंकरदेव बड़े असमंजस में पड़े और अन्त में उन्होंने शिष्यत्व की दीक्षा देना स्वीकार कर लिया। इसके लिए उन्होंने राजा को उपवास, प्रार्थना तथा अन्य व्रत करने का आदेश दिया। दूसरे दिन जब राजकर्मचारी शंकरदेव के द्वार पर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्होंने हाथ पैर धोकर नए वस्त्र धारण किए तथा अनेक स्वरचित गीतों का पाठ करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण में लीन हो गए।

यद्यपि उनके सबसे बड़े पुत्र भी धर्म का कार्य करते थे परन्तु उन्होंने माधवदेव को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया।

इससे प्रकट है कि सिद्धांतों के समक्ष वे व्यक्ति और परिवार को महत्त्व नहीं देते थे। माधवदेव अत्यन्त योग्य और सम्प्रदाय चलाने में अत्यन्त कुशल थे। आचार तथा साहित्य रचना दोनों में वे अपने गुरु से भी आगे ही रहे। शङ्करदेव के समझाने-बुझाने पर भी उन्होंने अपनी सगाई तोड़ दी और जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे।

सम्भवत: इसी कारण माधवदेव के समय में सम्प्रदाय के दो भाग हो गए। शङ्करदेव ब्रह्मचर्य के पालन को स्वाभाविक नहीं मानते थे और उसे प्रोत्साहित भी नहीं करते थे। परन्तु माधवदेव के कारण सम्प्रदाय में ब्रह्मचारी एकशरणियों का अलग दल खड़ा हो गया जो 'केओलिया' कहलाते थे।

इसके साथ ही दामोदरदेव नामक शकरदेव के दूसरे प्रमुख शिष्य की माधवदेव से बनती नहीं थी। इसका एक कारण उत्तराधिकार भी हो सकता है। यह ऐसी भावना है जिसपर उच्च से उच्च धार्मिक और नैतिक व्यवहार भी काबू नहीं पा सका है। गुरु के जीवन काल में दोनों भले ही शांत रहे हों, उनके स्वर्ग-वासी होते ही पारस्परिक मनमुटाव खुलकर सामने आ गए और दोनों अपने अपने अनुयायियों को लेकर अलग हो गए। वास्तव में दामोदरदेव ने ही अपने गुट को अलग किया क्योंकि माधवदेव तो मनोनीत उत्तराधि-कारी थे ही।

दामोदरदेव का सम्प्रदाय दामोदरिया कहलाया और माधवदेव का महापुरुषिया क्योंकि शंकरदेव अपने जीवन के अन्तिम दिनों में महापुरुष कहलाने लगे थे। वास्तव में लोग उन्हें अवतार ही मानने लगे थे। आज भी उनको अवतार की ही दृष्टि से देखा जाता है। माधवदेव ने शंकरदेव के

अनुयायियों का अच्छा संगठन किया और असम में स्थान स्थान पर अपने प्रचारक भेजे। उन्होंने कई जगह नये केन्द्र भी स्थापित किये।

शंकरदेव के देहान्त तथा सम्प्रदाय के विभाजन के कारण ब्राह्मणों ने समझा कि अब एकशरण धर्म को नष्ट करने का उचित समय है। इसलिए उन्होंने फिर विरोध का झण्डा खड़ा कर दिया और माधवदेव को परेशान करना शुरू किया। इस समय तक कूचबिहार के राजा नरनारायण का देहान्त हो चुका था और उनके पुत्र लक्ष्मीनारायण गद्दी पर थे। शंकरदेव की भांति माधवदेव को भी राजा के दरबार में उपस्थित होकर विवाद में भाग लेना पड़ा। परन्तु उन्हीं की भांति ये भी नये राजा को प्रभावित करने में सफल हुए। इसके बाद कुछ समय तक वे वहीं रहे और सन् १५९६ में कालकवलित हुए।

उत्तराधिकारी होने के कारण माधवदेव को यद्यपि मुख्यतः गृहस्थ अनुयायियों का ही नेतृत्व करना पड़ा, परन्तु स्वयं उन्हीं के अनुकरण पर जो अनुयायी केवलिए हो गये थे, उनको भी उन्हें निभाना आवश्यक था। इसलिए इस प्रकार के भक्तों को उन्होंने शंकरदेव के ग्रन्थों में कल्पित आदर्श भक्त घोषित कर दिया और उनको मन्दिरों की दैनंदिन कार्रवाइयों का संचालक बना दिया। इस प्रकार एकशरण धर्म में भी पुरोहितवाद का बीजारोपण हो गया। ये लोग मन्दिरों के पास छोटी छोटी कुटियाँ बनाकर रहने लगे और मन्दिर के कार्यों के साथ साथ समाज को धार्मिक तथा आध्यात्मिक उपदेश देने का कार्य भी करने लगे। समय बीतने के साथ प्रत्येक नये धर्म में पुराने धर्मों के अवगुणों का प्रवेश होने लगता है।

महापुरुषियों को अपने गुरु से दीक्षा मन्त्र प्राप्त होता है परन्तु यह मन्त्र अकेले किसी को नहीं दिया जाता, दो या अधिक व्यक्तियों के समूह को ही दिया जाता है। जिनको एक साथ मन्त्र प्राप्त होता है वे एक दूसरे को आध्यात्मिक साथी मानते हैं और उनका नाम लेकर नहीं पुकारते। इन अवसरों पर जाति का भी कोई भेद नहीं किया जाता। ब्राह्मण को शूद्र के साथ भी मन्त्र दिया जा सकता है और दोनों जीवन भर आध्यात्मिक रूप से परस्पर बँधे रहते हैं।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे एक दूसरे का भोजन भी कर सकते हैं या परस्पर विवाहसम्बन्ध भी स्थापित कर सकते हैं। वे केवल एक आसन पर बैठ सकते हैं और अपने से उच्च जाति के व्यक्ति का पकाया भोजन खा सकते हैं। इससे उनकी आध्यात्मिक मित्रता के हलकेपन का अनुमान हो सकता है। आश्चर्य की बात है कि आध्यात्मिक सम्बन्धों का बाह्य आचार विचार और सामाजिकता पर कोई प्रभाव स्वीकार नहीं किया गया। सम्भवत: शंकरदेव और माधवदेव बहुत ज्यादा क्रांतिकारी कदम उठाने में भय का अनुभव करते थे। इस प्रकार उन्होंने जातिभेद का समर्थन तो नहीं किया परन्तु उसका नाश भी नहीं किया। थोड़े परिवर्तन के साथ उन्होंने इसे चलने दिया।

माधवदेव ने 'चोरधर', 'पिपरा गुछुवा', 'भूमि लेटोवा', 'भोजन व्यवहार' और 'अर्जुन भञ्जन' नामक नाटक लिखे और 'रामायण आदिकाण्ड', 'नाम मालिका', 'राजसूय यज्ञ', 'वैष्णव कीर्तन' आदि काव्य रचनाएं कीं। उन्होंने शंकरदेव के 'भक्ति रत्नाकर' की टीका भी लिखी। 'नाम घोषा' और 'भक्ति रत्नावली' कविता के क्षेत्र में उनकी सर्वोत्तम रचनाएं

मानी जाती हैं। 'नाम घोषा' में संस्कृत श्लोक सानुवाद दिये गये हैं। इसके १००० पद्यों में से ७०० तो प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के ही रूपान्तर हैं। अपनी नीतिपरकता के कारण यह ग्रन्थ गीता या उपनिषद् के समान पवित्र और उपयोगी माना जाता है। यह असमिया साहित्य की अमूल्य निधि है। 'भक्ति रत्नावली' में १२ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में भक्ति का एक पक्ष प्रस्तुत किया गया है। ये सभी ग्रन्थ एक महान् कवि और संन्यासी की आत्मा की अभिव्यक्ति हैं। इनसे असमिया साहित्य बहुत समृद्ध हुआ। आज भी उनकी महत्ता निर्विवाद है।

दामोदरदेव ब्राह्मण थे और उन्हें इस बात का बड़ा गर्व भी था। एकशरण धर्म के वे पहले प्रमुख ब्राह्मण नेता थे। इसलिए सम्प्रदाय के विभाजन के पश्चात् उन्होंने अपने उपसम्प्रदाय को बामुनिया कहलाना आरम्भ किया। कुछ लोग उन्हें दामोदरिया भी कहते थे। दामोदरदेव ने विशेष ग्रन्थ रचना नहीं की और न अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए ही कुछ लिखा। दामोदरियों में शंकरदेव और माधवदेव के ही ग्रन्थों का पाठ किया जाता है और उन्हीं की कविताएँ गायी जाती है। दामोदरदेव के कुछ अनुयायियों ने अवश्य कुछ ग्रन्थ लिखे।

दामोदरदेव ने भी श्रीकृष्ण की भक्ति को सर्वप्रमुख स्थान दिया परन्तु अन्य देवी देवताओं की भक्ति का विरोध कुछ कम कर दिया। उन्होंने कहा कि यद्यपि प्राचीन ऋषि गृहस्थों के कर्त्तव्यों में अनेक देवी-देवताओं की पूजा और भक्ति क विधान कर गये हैं फिर भी पहले श्रीकृष्ण भगवान् की ही

भक्ति करना उचित है, उनकी भक्ति तथा पूजा करने के पश्चात् ही अन्य देवी-देवताओं की पूजा करनी चाहिए। श्रीकृष्ण की पूजा किये बिना अन्य देवों को पूजने का उन्होंने निषेध किया। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अन्य देवों को भी आंशिक मान्यता प्रदान की। सम्भवतः यह उन्होंने अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए ही किया हो क्योंकि जिन अनेक देवताओं के पूजकों को शंकरदेव और माधवदेव के कठोर एकशरण धर्म में स्थान नहीं था, वे सब इधर आ सकते थे। परन्तु पशुवध का विरोध करने के विषय में दामोदरदेव भी शकर तथा माधव के समान ही कठोर थे।

भारत की सामान्य धार्मिक दृष्टि से देखने पर तो दामोदरदेव का सिद्धांत ही उसके अधिक समीप प्रतीत होता है। वास्तव में हिन्दू धर्म के किसी भी सम्प्रदाय की कभी भी यह नीति नहीं रही कि एक को छोड़कर अन्य सबको त्याग दिया जाय। यहाँ तो सब देवों को एक ही मूल देव या शक्ति के विभिन्न पक्ष या नाम माना गया है। यह तब और भी आश्चर्यजनक हो जाता है जब वह देव मूलतः आध्यात्मिक कल्पना न होकर कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व हो, जैसे कृष्ण या राम। इस्लाम का एकेश्वरवाद शंकरदेव के सिद्धांत से मिलता जुलता है परन्तु उसमें ईश्वर को ईश्वर (या अल्लाह) ही कहा गया है, कोई मानवी नाम नहीं दिया गया।

जो हो, शंकरदेव पर इस्लाम से प्रेरणा लेने का आरोप तो नहीं लगा सकते, यह अवश्य कह सकते हैं कि उन्होंने अनेकता में एकता देखने की भारतीय धार्मिक प्रवृत्ति को या तो ठीक से समझा नहीं, अथवा किसी कारण उसका पालन उचित

नहीं समझा। यदि दूसरी बात सच हो तो कारण यह हो सकता है कि अनेक देवों के स्थान पर एक की ही भक्ति को प्रचलित करके वे लोगों की आध्यात्मिक भावना में तीव्रता उत्पन्न करना चाहते थे। भारत के अन्य वैष्णव धर्मो में भी कहीं ऐसे एकदेववाद का पालन नहीं किया गया। वैष्णव धर्म की तो सबसे बड़ी विशेषता सहिष्णुता ही रही है।

सामाजिक रूप से महापुरुषियों और दामोदरियों में कोई भेद-भाव नहीं रहा। दोनों सम्प्रदायों के व्यक्ति यदि एक ही जाति के हों तो परस्पर विवाह आदि कर सकते हैं। यही नही, वे नामघरों तथा सूत्रों में होने वाले धार्मिक समारोहों में भी संयुक्त रूप से सम्मिलित हो सकते हैं। अन्तर यही होता है कि जहाँ महापुरुषिये न तो मूर्ति-पूजा करते हैं और न अनेक देवों को मानते हैं, वहाँ दामोदरिये ये दोनों कार्य कर सकते है।

इन सब कारणों से कालान्तर में दामोदरियों की संख्या महापुरुषियों से अधिक हो गयी। इसमें ब्राह्मणों का बोलबाला था और ब्राह्मण प्राचीन काल से समाज के कर्णधार रहे हैं। इसलिए जब कोई ब्राह्मण दामोदरिया सम्प्रदाय की दीक्षा लेता, तब उसके सब यजमान और अनुयायी भी सम्प्रदाय में सम्मिलित हो जाते। इस सम्प्रदाय में ब्राह्मण ही सूत्रों के प्रमुख होने लगे और मन्त्र देने का अधिकार भी उन्हीं को प्राप्त होता था। इसके विपरीत महापुरुषियों में शूद्र मन्त्र देते थे तथा सूत्रों के प्रमुख भी होते थे। ब्राह्मण महापुरुषियों को मन्त्र शूद्र से ही लेना पड़ता था। इसलिए भी ब्राह्मण दामोदरियों की ओर आकृष्ट होने लगे। एकाध महापुरुषिये सूत्र में ही ब्राह्मण अधिकारी पाया जाता है।

इस तरह जाति-सम्बन्धी जो सुधार शंकरदेव ने आरम्भ किया, वह भी बहुत शीघ्र नष्ट हो गया और दोनों सम्प्रदाय मूलतः जाति के आधार पर ही फिर बँट गये। परन्तु यहाँ द्रष्टव्य यह है कि यह पुनर्विभाजन एक ब्राह्मण ने ही कराया। इससे मौलिक ब्राह्मण असहिष्णुता का पता चलता है। दामोदरदेव के इन कार्यों के कारण शंकरदेव के प्रयत्नों की महत्ता कम नहीं होती। यह भारतीय समाज का दुर्भाग्य ही है कि बड़े से बड़े धर्मप्रवर्तकों ने भी जातिभेद समाप्त करने में सफलता नहीं पायी।

दामोदरियों में इस प्रवृत्ति का और भी विकास हुआ। जो मन्त्र महापुरुषिया सम्प्रदाय का कोई भी अनुयायी पूरी तरह जपने के लिए स्वतन्त्र है, उसी को दामोदरियों में ब्राह्मण तो पूरा जप सकता है परन्तु शूद्र उसे पूरा नहीं जप सकता, उसका एक अंश ही जप सकता है। इससे प्रकट है कि दामोदरियों ने वर्णपरक समाज के सभी दोष फिर से अपने भीतर भर लिये।

आगे चल कर दामोदरियों का एक और उपसम्प्रदाय बना जिसके नेता हरिदेव थे। ये भी ब्राह्मण थे और जात-पाँत की कट्टरताओं के पोषक थे। परन्तु यह सम्प्रदाय बहुत बढ़ नहीं सका।

संक्षेप में, यह शंकरदेव के जीवन और उनके द्वारा स्थापित परम्परा और धर्म का सामान्य परिचय है। भले हो बाद में वह विभाजित हो गया हो, वह समूचे असम में वैष्णव धर्म स्थापित करने में सफल रहा। प्रदेश भर में ३०० के लगभग सूत्र हैं जो धार्मिक केन्द्रों का काम करते हैं और गाँव-गाँव में

नामघर है जिनका संचालन लोकतन्त्री ढंग से किया जाता है। ये गाँव की पंचायतों का भी काम करते हैं। बड़े समारोहों पर अनेक गांवों के नामघर संयुक्त होकर उत्सव का आयोजन करते हैं।

चार सौ से अधिक वर्षों से यह परम्परा इसी भांति चल रही है। इस सबका श्रेय कवि भक्त शकरदेव को है।

● ● ●